हरकोर्ट, ब्रेस एण्ड क० न्यूयार्क, यू० एस० ए०
की अनुमति से
भारत में मुद्रित।

मूल पुस्तक का हिन्दी में प्रथम अनुवाद।

प्रथम संस्करण—१९५७

प्रकाशक जी० एल० मीरचंदानी, पर्ल पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड,
१२, वाटरलू मेन्शन, (रीगल सिनेमा के सामने), महात्मा गांधी रोड,
बम्बई–१

मुद्रक : मणिलाल टी० शाह,
लिपिका प्रेस, कुर्ला रोड, अंधेरी।

इस

कामना से

लिखित कि विश्व

के बच्चे एक दिन उन लोगो

को समझने की इच्छा लेकर बडे

हो जिन्हे वे अभी जानते नही, और

वे एक दिन बडे हो अपने

हृदय का सहज

विश्वास खोये

बिना।

अनुक्रम



एक

भारत के बारे में चर्चा

जुलाई १९५१ में, जब मैं पन्द्रह वर्ष की थी, मुझे पहली बार मालूम हुआ कि शायद मुझे भारत जाना पड़े। मैं न्यू हैम्पशायर में गर्मियो की छुट्टियाँ बिता रही थी। एक दिन अपने घर के पोर्च में झूले पर पड़े-पड़े मैंने अखबार में पढा

"भारत में बोल्स की नियुक्ति की सम्भावना"

मैं हैरान रह गयी। यह सही है कि वैदेशिक सेवा में मेरे पिता की नियुक्ति की सम्भावना कोई नयी बात न थी। वसन्त में उनके सामने किसी अन्य देश के राजदूत-पद का प्रस्ताव रखा जा चुका था। उन्हें भारत में राजदूत बनाने का प्रश्न भी हमारी छुट्टियाँ शुरू होने और मेरे हैम्पशायर को रवाना होने से पहले उठ चुका था। लेकिन इस सम्भावना को कोरी अफवाह समझकर मैंने इस विषय की पारिवारिक चर्चाओ पर विशेष ध्यान नही दिया था। तभी अखबार में यह समाचार पढने को मिला, जिसे अफवाह हर्गिज़ नही माना जा सकता था। मुझे एकाएक ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरे पिता की नियुक्ति बहुत सम्भव है।

तुरन्त मेरे दिमाग मे कई बातें घूम गयी। यदि मेरे पिता भारत गये तो क्या मेरे भाइयो, बहनो को और मुझे भी उनके साथ जाना पडेगा? वहाँ अपना घर कैसा होगा? क्या हमें वहाँ स्कूल जाने को मिलेगा? इन सारे प्रश्नो का तब तक समाधान नही हुआ, जबतक कि मैं छुट्टियो के बाद कनेक्टीकट के छोटे-से नगर एसेक्स मे अपने घर वापस न आ गयी।

मेरे पिता को, जिन्हे लगभग सभी लोग चेट कहते हैं, काफी भरोसा था कि उनकी नियुक्ति निश्चित ही है। एशिया के विषय में उनको सदा से विशेष रुचि रही है और उनका दृढ विश्वास है कि विश्व का भावी इतिहास दक्षिण-पूर्व एशिया में लिखा जायेगा।

सितम्बर में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने चेट की नियुक्ति की घोषणा की। मेरी माँ,

मेरे भाइयो और वहनो तथा मुझपर कनेक्टीकट छोडकर भारत जाने के विचार की अलग-अलग प्रतिक्रिया हुई। कालेज से ग्रेजुएट हो जाने के वाद कुछ साल पहले, मेरी माँ, भारत में कई सप्ताह रहकर आयी थी और वह फिर वहाँ जाने के लिए उत्सुक थी। लेकिन चूँकि हमें पिछले कुछ वर्षों में कई वार यहाँ से वहाँ जाना पडा था, इसलिए माँ को खेद था कि मेरे छोटे भाई-वहन और मुझे, जिन्हे किसी जगह जमकर रहने का, कभी मौका नही मिला था, फिर एक नयी जगह जाना पडेगा।

मेरे वडे भाई और वहन का, जिनके विवाह हो चुके थे, अपना काम और परिवार छोडकर जाना असम्भव था, किन्तु हमें जो अवसर मिला था, उससे दोनो ही को ईर्ष्या थी। मेरी छोटी वहन सैली, जो उस समय तेरह साल की थी, जाने के लिए उत्सुक थी और उसे उतनी ही उतावली थी, जितनी मेरे पिता को। मेरा छोटा भाई सैम, जो तव वारह साल का था, अपने स्कूल से खूब खुश था, लेकिन नये देश में, और वह भी ऐसे देश में, जहाँ उसे नये-नये खेल सीखने को मिलेगे, जाने की वात ने उसके मन मे वडी उमगे पैदा कर दी थी।

अपने परिवार में औरो की अपेक्षा मुझमें ही उत्साह की सवसे ज्यादा कमी थी। वास्तव में मेरा मन जाने का नही था, यद्यपि यह वात नही थी कि मैं भारत जाना ही नही चाहती थी, वल्कि मैं अपने नगर, अपने स्कूल और अपने मित्रो को छोडना नही चाहती थी। पिछले ही वर्ष डेढ साल के बाद हम हार्टफोर्ड (कनेक्टीकट) से आये थे। मेरे पिता वहाँ के गवर्नर थे। सितम्वर में ही मेरा हाईस्कूल का प्रारम्भिक वर्ष शुरू हुआ था और अव मुझे स्थायित्व का अनुभव होने लगा था। मेरे मित्र भी वडे अच्छे थे, इसलिए मैंने सोचा कि यदि मैं चली गयी तो मुझे उनकी मैत्री से वचित होना पडेगा, जिसे मैं वहुत मूल्यवान मानती थी।

साथ ही मैं यह भी जानती थी कि ऐसा अवसर शायद फिर कभी न मिलेगा। यदि मैंने न जाना ही तय किया तो बाद में मुझे पछताना पडेगा। उस पर मैं यह भी महसूस कर रही थी कि जब बडे भाग्य से मुझे यह अवसर मिला है, तब मुझे उत्साह का अनुभव करना ही चाहिए।

सौभाग्य से निर्णय मुझे नही करना पडा। मेरे माता-पिता ने मेरी दुविधा

देखकर मेरे बारे में खुद ही तय कर लिया। यह सत्य है कि बाद को मैंने उनके प्रति कृतज्ञता का अनुभव किया; किन्तु उस समय तो मुझे उनके निर्णय से निराशा ही हुई। एसेक्स के मेरे मित्रो ने मुझे बाद में बताया कि अपने जाने की बात मालूम होने के बाद से मैं बिल्कुल गुमसुम निर्जीव मूर्ति की तरह, उदासी की साक्षात् तस्वीर बनकर स्कूल आया करती थी। इस प्रकार मेरी भारत-यात्रा का श्रीगणेश शुभ ढग से नही हुआ।

मेरे पिता की नियुक्ति के लिए सिनेट की बहुमत से स्वीकृति आवश्यक थी। जब तक ९ अक्तूबर को मतदान नही हो गया, तब तक हमारे घर की दशा बिल्कुल अव्यवस्थित और अनिश्चित रही। अनेक चीजें बांधनी थी। हमारे कपडे, हमारी किताबें, छोटा-मोटा फर्निचर, चीनी के बर्तन, बाइसिकलें और बाजे। इनमे से कुछ को तो जहाज़ से भेजना था और कुछ को हवाई पार्सल से। कुछ चीजे, जिनकी हमें रास्ते में ज़रूरत पडती, छोटे सूटकेसो में बन्द करने के लिए हमने अलग रख ली थीं। ट्रको, सूटकेसो, थैलो से सारा घर भरा पडा था। अक्सर सम्बन्धी और मित्र भी, सामान बँधवाने में मेरी माँ का हाथ बँटाने के लिए घर में बने रहते थे।

सामान बांधने के इस काम के बीच-बीच में बाधा पडती रहती थी, क्योकि हमें शारीरिक परीक्षा करवाने और टाइफायड, टाइफस, टिटेनस, हैज़े, पीतज्वर आदि के टीके लगवाने के लिए डाक्टर के यहाँ भी जाना पडता था।

९ अक्तूबर की शाम को हमने सुना कि सिनेट के सदस्यो ने मेरे पिता की नियुक्ति पर स्वीकृति की मुहर लगा दी है। अब ट्रको और सूटकेसो को फिर से खोलने की सम्भावना मिट चुकी थी। लोगों से विदाई लेने का सचमुच समय आ गया था, और १३ अक्तूबर के लिए वायुयान में जो स्थान सुरक्षित कराये गये थे उनकी बात पक्की की जा सकती थी।

जब हमारा जाना निश्चित हो गया और अस्तव्यस्तता में कुछ कमी हो गयी तब मैं अक्सर देखती कि मेरी मां, जिन्हे लगभग सभी स्टेब पुकारते हैं, भारत या एशिया के बारे में कोई न कोई पुस्तक पढने में तल्लीन हैं। १९२७ की उनकी भारत-यात्रा की याद धुँधली हो गयी थी और वह नेहरूजी की 'मेरी कहानी', जान ग्युएन्थर लिखित 'इण्टरव्यू विद इण्डिया', लुई फिशर की 'गांधीजी

की जीवनी' तथा और दूसरी ऐसी पुस्तके पढती थी, जिनसे पिछली स्मृतियो को ताजा करने मे मदद मिली और आज के भारत का उन्हे परिचय मिला।

भारत पहुँचने तक जो थोडा-सा समय हमारे पास था उसमे हम सबने वहाँ के वारे मे जितना हो सके उतना ज्ञान पुस्तके पढकर और अन्य मार्गों से प्राप्त करने का प्रयत्न किया। सैम, सैली और मुझको वहुत कम जानकारी थी। हाँ, हमने गाँधीजी के वारे में जरूर सुना था—जव १९४८ मे उनकी मृत्यु हुई थी और नेहरू के वारे में भी जव उन्होने भारत के नेता के रूप मे उनका स्थान ग्रहण किया था। किन्तु व्रिटिश औपनिवेशिक दासता से दवे भारत के वारे में हमारा ज्ञान नही के वरावर था। वहाँ के स्वाधीनता-आन्दोलन के विषय मे हमे कुछ मालूम नही था। १९४७ में, स्वराज्य मिलने के वाद भारत ने जो असाधारण प्रगति की उसके सम्वन्ध मे भी हमारी जानकारी नगण्य थी।

हमने वम्वई और कलकत्ता जैसे वडे शहरो के नाम सुन रखे थे, किन्तु हमें गाँवो का कुछ भी ज्ञान नही था। यह हमें वाद को ही मालूम हुआ कि भारत की आत्मा का निवास गाँवो मे ही है।

हमने वहाँ की निर्धनता, वढती हुई जनसख्या, लाखो लोगो की भुखमरी के बारे में तो सुना था, किन्तु भारत के उन नये नेताओ के वारे मे लगभग कुछ भी नही सुना था, जो उस निर्धनता को मिटाने के लिये कृतसकल्प हैं। न हमे उन असख्य ग्राम सेवको का ही कुछ पता था, जिन्हे भारतीय जनता के जीवन को सुधारने की सच्ची आशा है।

हमने भारत के साँपो और सँपेरो, साधुओ और महाराजाओ के वारे मे सुन रखा था, जिनके विषय मे अधिकतर अतिशयोक्ति का प्रयोग ही होता है।

हमने भारत की गर्मी और आँधियो के बारे में तो सुना था लेकिन हम उसकी वसतमयी निरभ्र ऋतु से अपरिचित थे। लोगो ने वहाँ के रगबिरगे फूलो और चिडियो, उसके शान्तिपूर्ण गाँवो और इन सब के अतिरिक्त वहाँ के शालीन लोगो के वर्णन मे बहुत कजूसी की थी।

सैली, सैम और मेरा यह सद्भाग्य था कि हमें भारत में जाने और यह पता लगाने का अवसर मिला कि भारत और एशिया के बारे में हमारा ज्ञान कितना अधूरा था। मेरा विचार है कि कोई ऐसा उपाय जरूर होना चाहिए जिससे उन लाखो अमरीकियो की गलतफहमियाँ दूर की जा सके, जिन्हे हमारे समान

अवसर मिलना सम्भव नही है। अमरीकी स्कूलो में एशियाई देशो का अध्ययन वढाना या अमरीका के ज्यादा से ज्यादा नगरो में भारतीय सूचना-कार्यालय और पुस्तकालय खोलना शायद ऐसे उपाय हो सकते हैं। क्योंकि यह छोटी-छोटी गलतफहमियाँ एकत्र हो कर अक्सर एक दूसरे को समझने के मार्ग में वाधा वनती हैं और इसके फलस्वरूप दुनिया के लोगो में अविश्वास और घृणा का विस्तार होता है।

अमरीका से रवाना होने के लगभग एक सप्ताह पूर्व हमें विदेश विभाग से जो साहित्य प्राप्त हुआ और जिसे 'पोस्ट रिपोर्ट" (अग्रिम सूचना) कहते हैं, उसने भारत सम्बन्धी हमारी जानकारी को वढाया नही। यह रिपोर्ट भारत-स्थित अमरीकी दूतावास के लोगो द्वारा तैयार की गयी थी, और सभी कूटनीतिक अधिकारियो को भारत जाने से पहले भेजी जाती थी। शायद और सब वातो मे ज्यादा यह रिपोर्ट यूरोप में सधे हुए सकीर्ण कूटनीतिक क्षेत्रो में भारत के वारे में यह भ्राति उत्पन्न करती थी कि "उस देश में जा फँसना असुविधाजनक है।" उसमे भारत के जलवायु, भोजन, वीमारियो, सामाजिक रीतियो और कूटनीतिक शिष्टाचारो का वर्णन किया गया था, जो हमने आगे चलकर अनुभव किया कि वहुत ही अतिशयोक्तिपूर्ण है। उस रिपोर्ट में यह सलाह दी गयी थी कि भारत जानेवाले कैसे कपडे, खाद्य-सामग्री और दवाइयाँ साथ ले जायें। इससे मेरे पिता का मन भी मैली, सैम और मुझे ले जाने के वारे में हिचकिचाने लगा। आगे चलकर हम अपनी शकाओ पर लज्जित हुए।

उस "पोस्ट रिपोर्ट" (अग्रिम सूचना) के साथ हमें नयी दिल्ली के उस बँगले की कुछ तस्वीरें भी मिली, जिसमें हमें रहना था। उन चित्रो से हमें, इसके सिवाय, और कुछ नही मालूम हुआ कि वह मकान इकमज़िला है, उसकी साज सज्जा अमरीकी घरो जैसी है उसमे दीवानख़ाना है, भोजन का कमरा और पुस्तकालय—ऑफिस है और तीन सोने के कमरे हैं।

इस प्रकार भारत के वारे में किसी जानकारी के विना, सिवाय उसके जो कि 'पोस्ट रिपोर्ट" (अग्रिम सूचना) से हमें मिली थी और मेरे यही मनाते हुए, कि मुझे घर न छोड़ना पडे, मै रोज स्कूल जाती, गुमसुम और अनमनी-

सी अपने मित्रो से उदास मन मिलती, घर आती और अपना कर्त्तव्य समझ कर सामान बाँधती। चलने के दिन–१३ अक्तूबर तक यही हाल रहा।

तेरह अक्तूबर की भोर अपने समस्त सौंदर्य तथा अरुणिमा के साथ उदित हुई। नीलाभ स्वच्छता के स्थान पर उस दिन आकाश तैरते हुए नन्हे बादलो के टुकडो से भरा था। धूप मे एक सुखद उष्णता थी। नवोदित सूर्य की किरणें, हमारे घर के चारो ओर घिरे हुए तथा नदी के किनारे पर उगे हुए वृक्षो की पत्तियो को लाल, पीले और गुलाबी रग से अनुरजित करके पूर्ण आभा के साथ प्रकाशित हो रही थी। जलकुक्कुट का समूह वेदनापूर्ण राग निकालता हुआ सरिता के वक्ष पर उड रहा था तथा दक्षिणगामी 'ग्रेकल्स' मेरी खिडकी के पास वाले खेत मे बैठी हुई विश्राति के पलो को गुजित कर रही थी।

उस दिन सुबह आँख खुलने पर मैंने यही देखा और यही सुना। मैंने खाडी के पार सूर्यालोकित नगर पर दृष्टि डाली और सोचा—काश! मुझे उस नगर को, और अपने आसपास के सौन्दर्य को छोडना न पडे।

प्रात काल नौ बजे हमारा घर उन लोगो से भर गया जो विदा देने और शुभकामनाएँ प्रकट करने आये थे। हम सब ने यह प्रकट करने की कोशिश की कि आज का दिन और दिनो जैसा ही है। लेकिन मन ही मन हम जानते थे कि आज के दिन में एक विशेषता है। उस समय इतनी दूर जाने के अपने कौतूहल को दबा रखना बहुत ही कठिन था और मैं घर छोडकर जाने की अपनी वेदना को छिपाने में कठिनाई का अनुभव कर रही थी।

ग्यारह बजे हमने विदा ली अपने मित्रो से और अपने पालतू कुत्ते और बिल्लियो से। हमने अपना घर छोडा, जो नदी के किनारे था। हमने अपना नगर छोडा, जिसे एसेक्स कहते हैं और दो घटे तक मोटर-यात्रा के बाद तो हमारा राज्य कनेक्टीकट भी पीछे रह गया।

हवाई अड्डे पर पहुँचने से लेकर, चार बजे पेरिस के लिए अविराम उडान वाले वायुयान में रवाना होने तक, क्या-क्या बातें हुईं और क्या-क्या हुआ, मुझे कुछ याद नही। मुझे बस इतना याद है कि हमने अपने सामान की जांच की, अपने पासपोर्ट सम्हाले और अपने परिवार के उन लोगो और मित्रो से,

जो हमारे साथ न्यूयार्क तक आये थे—अन्तिम वार मिले। जाने का समय हो गया था और हम सीढियो से चढकर वायुयान में पहुँच गये। थोडी ही देर में वायुयान वडे शोर के साथ उड चला और हम अपने मित्रो तथा अपने घर से ऊँचे, वहुत ऊँचे, दूर, वहुत दूर होते गये।

पेरिस, जिनेवा, रोम, काहिरा, वसरा, ईराक, तहरान, सउदी अरब आदि जगहो पर हमारा जहाज़ थोडी थोडी देर ठहरा और फिर एक दिन आधी रात को जहाज की परिचारिका ने हमें सूचना दी कि अव हम वम्वई पहुँच रहे हैं।

दो

पहली झांकी

वम्वई की गर्म रात में हम जहाज़ से उतरे। हम थके हुए थे। कुछ रात वाकी थी। जिन लोगो को हमारे लिए उस घडी तक इन्तज़ार करना पडा था उनका हमने मुस्करा कर अभिवादन किया, लेकिन हमारी वह मुस्कराहट वहुत कुछ शुष्क थी। सैम, सैली और मेरी मुस्कराहट तो होटल जाने के लिए मोटर में सवार होते ही उसके अँधेरे में विलीन हो गयी। सोने के लिए कुछ घंटो का समय हमारे पास था। नाश्ते के वाद दूतावास के हवाईजहाज से हमे दिल्ली जाना था।

लगभग आधे घंटे में हम हवाई अड्डे से, नगर में होते हुए वम्वई के वन्दरगाह पर स्थित अतिशय भीमकाय और भव्य ताजमहल होटल में पहुँच गये। घंटो पहले से मैं भारत के प्रथम दर्शन के वारे में चिन्तन कर रही थी। आखिर कैसा होगा भारत? मुझे उसके वारे में कुछ भी तो जानकारी नही थी। मैं वार-वार उसकी दयनीय निर्धनता के वारे में सुन चुकी थी। मेरे लिए अत्यधिक निर्धनता एक तरह से अस्पष्ट और अवास्तविक-सी चीज़ थी, क्योंकि मैंने उसे देखा तो था, लेकिन मेरा कभी उससे निकट का अनुभव नहीं हुआ था। यह विचार ही वडा डरावना था कि गरीबी का भयंकर भार लोगों को ढोना पडता है और उनके साथ वच्चों को भी पिसना पडता है।

अन्त में, मैंने निश्चय किया कि मुझे सोचना वद करके धीरज के साथ उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि हम किसी भी प्रकार की परिस्थिति के लिए तैयार हो तो हमको न तो आश्चर्य होता है और न निराशा।

इसलिए जब हम मूंज की चारपाइयो पर, दरियो पर और सीमेन्ट की नगी सडको पर सोये हुए सैकडो स्त्री-पुरुषो और बच्चो के बीच से निकले तो मुझे बहुत अधिक आश्चर्य नही हुआ।

उस रात को गर्मी बेहद थी और मै इस नतीजे पर पहुँची कि घर की वद दीवारो में घुटने के बजाय बाहर सोने मे ज्यादा ठडक मिलती है। किन्तु बडे-वडे घर कही-कही ही दिखलाई पड रहे थे और जो सैकडो लोग सो रहे थे उनके लिए अपर्याप्त थे। यहाँ तक कि सडक के किनारे-किनारे वनी हुई झोपडियाँ भी उन सब के लिए पूरी नही पड सकती थी। तव मैंने समझा कि वहुतो के पास न सडको के सिवाय कोई घर है, न फुटपाथ के सिवाय कोई विछौना और न आकाश के सिवाय कोई छत।

लेकिन मैं थकी हुई थी, इसलिए जो गरीबी हमने उस रात देखी थी उसके बारे में ज्यादा देर न सोच सकी और न इस बारे मे कि हमारे ठहरने के होटल जैसा ऐश्वर्य और इतनी ज्यादा गरीबी का अस्तित्व एक साथ कैसे हो सकता है?

ताजमहल होटल बम्बई के बन्दरगाह पर वना विक्टोरिया शैली का एक भव्य प्रासाद है। नगे पर रहनेवाले नौकरो ने चौडे सगमरमर के बरामदे से होकर हमें हमारे ऊँचे-ऊंचे विशाल कमरो मे पहुँचाया। खिडकी के मार्ग से चाँदनी से आलोकित बन्दरगाह पर विहगम दृष्टि डाल कर हम सब सो गये।

चार घण्टे की नीद ने हमें बिलकुल तरोताज़ा कर दिया। दिन में भी ताज़गी थी। चमकते हुए गर्म सूर्य की किरणे बन्दरगाह की छोटी-छोटी लहरों पर झिलमिला रही थी और हमारी खिडकी के नीचे लगे, वगीचे के फूलो का रग निखार रही थी। सडक में जीवन और जाग्रति आ गयी थी, और वह प्रात कालीन कार्यशीलता से चचल हो उठी थी।

नाश्ता करके हम उसी रास्ते से हवाई अड्डे को लौटे, जिस पर कुछ घण्टे पहले ही हम निकल चुके थे। निर्धनता तो अव भी थी, लेकिन वह मनहूसियत, वह मन्नाटा, वह रात की दम घोटनेवाली शून्यता खत्म हो चुकी थी, उसी जगह एक प्रकार की हलचल, ताजगी और लोगो की दौड-धूप शुरू हो गयी थी।

वातचीत, हँसी-खुशी और शोरगुल ने रात के सन्नाटे का स्थान ले लिया था और जो मनहूसियत हमने थोडी देर पहले देखी थी उसका स्थान ले लिया था—रगबिरगी साडियो की चमक और तडक-भडक ने, जिन्हे महिलाएँ बडे आकर्षक ढग मे पहिने थीं।

पैदल चलने की पटरियो पर, जिन्हे हम पिछली वार सोये हुए मनुष्यो से भरी हुई देख चुके थे, माताएँ सवेरे का भोजन वनाने मे व्यस्त थी। पुरुप काम पर जाने की तैयारियाँ कर रहे थे या काम मे लग चुके थे। वडी लडकियाँ अपनी माताओ का हाथ वँटा रही थी और अपने छोटे भाई-वहनो की देखभाल कर रही थी। वच्चे हँस-खेल रहे थे। कुछ दूर, शहर से वाहर निकल कर हमने लडको और नौजवानो को, वचकाने देशी कुत्तो की सहायता से मवेशियो, भेडो और वकरियो के झुण्डो को शहर में विक्री के लिए ले जाते देखा। तव मैंने जाना कि निर्धनता निराकार नही है। वह मानव रूप में ही अपने को व्यक्त करती है। इन्सान ही गरीवी के तत्व रूप हैं—हाड-मांस के मानव, वास्तविक लोग जो खाते-पीते हैं, चलते-फिरते हैं, वोलते-चालते हैं—ऐसे मानव जो जीवित हैं, दुख झेलते हैं, जिनके अन्तर मे प्रेम, हर्ष और शोक की भावनाएँ उठती हैं। परन्तु ये मानव भिन्न हैं उन मानवो से, जिन्हे मै आज तक देखती रही हूँ।

हमने आकाश से उस विशाल नगरी को देखा और नयी दिल्ली के लिए उत्तर-पूर्व की ओर रुख किया। दोनो नगरो के बीच अधिकाश मार्ग मे हम छोटे छोटे घरो के समूहो के ऊपर से गुजरे। ये थे भारत के गांव। प्रत्येक गांव के चारो ओर हरे-हरे खेत फैले हुए थे। कहीं-कहीं धरती पर वल खाती हुई पतली-सी नदी भी दिखाई दे जाती थी।

लगी हुई थी। इस प्रकार का स्वागत बहुत ही प्रभावशाली था जिसकी हमने कल्पना तक नही की थी।

उस नयी अपरिचित, अनिश्चित दुनिया मे, जिसमें हम आये थे—मैली, सैम और मुझे एक अत्यधिक मैत्रीपूर्ण चेहरा दिखलाई पडा। वह था मेरे पिता का ड्राइवर—लम्बा-चौडा, दयालु और शान्त। उसका नाम था जीवन सिह। उसने उस दिन हमे हवाई अड्डे से छ मील दूर, १७ रैटेन्डन रोड पर हमारे नये घर पहुँचाया।

चूँकि दोपहर का वक्त था और गर्मी खूब पड रही थी, इसलिए शहर में सडक पर ज्यादा लोग नही मिले। दो कुली अपने सिर पर बडे-बडे बोझ रखे चले जा रहे थे, और एक साइकिलवाला एक और व्यक्ति को पीछे बिठा कर ले जा रहा था। हम बडी आसानी से उस बडी गाडी के आगे निकल गये जिसे धीमी चालवाले दो चौपाए खीच रहे थे। उन चौपायो की पीठ पर कूबड निकले हुए थे। जीवन ने बताया कि ये बैल कहलाते हैं। जो लोग हमें रास्ते में मिले उनमें से ज्यादातर सडक के किनारे छाया मे आराम कर रहे थे।

रास्ते मे गाँव थोडे से ही थे। अधिकाश ज़मीन सूखी और पथरीली थी, जिस पर अनगिनत झाडियाँ और कही-कही पेड भी दिखाई पडते थे।

चूँकि हमारा भावी घर नयी दिल्ली के निकटतम छोर पर था, इसलिए उस दिन हमें नगर बहुत कम देखने को मिला। जितना भाग भी हमने देखा वह हमारे विचार से वाशिंगटन, डी सी, के भागो जैसा ही आधुनिक और साफ-सुथरा था। मेरे पिता ने हमें बताया कि देश की राजधानी के रूप मे नयी दिल्ली का निर्माण पिछले बीस वर्षों के भीतर ही हुआ है।

मैं अपनी "कुछ भी सामने आ सकता है" सोचने की मनोवृत्ति पर एक बार फिर प्रसन्न हुई। जब हम १७ रैटेन्डन रोड के अहाते के छोटे रास्ते पर मुडे, मैंने देखा कि हमारा नया घर ऊपरी टीम-टाम से रहित, घर जैसा घर था। इससे मुझे बडी खुशी हुई, लेकिन सामने की सीढियो पर ग्यारह आदमी बडी मुस्तैदी से कतार बनाकर खडे थे। उनकी वर्दियाँ सफेद थी। उनके सजे हुए साफे गहरे लाल, सफेद और नीले रग के थे। वे लाल, सफेद और नीले रग के ही कमरबन्द बांधे थे। उनका परिचय हमसे नौकरो के रूप में कराया गया।

उनमें से एक व्यक्ति ने, जो हमें मालूम हुआ, हेड बटलर था, और जिसका

नाम शकूर था, आगे बढकर उत्साह से हमारा अभिवादन किया और हमें घर में ले गया। भीतर आश्चर्यजनक ठडक थी, क्योकि घर वायु-अनुकूलित (एयर कन्डिशण्ड) था। हमे अपना नया घर पसन्द आया, यद्यपि वह ज़रूरत से ज्यादा सजा-धजा था और ऐसा नही लगता था कि उसमें कोई रह रहा हो। हम बाकी नौकरो से भी मिले, जिनमें से अधिकाश अग्रेजी बोल लेते थे। फिर हमने मध्याह्न का भोजन किया, खाना पूरी तरह अमरीकी ढग का था। इसके बाद सामान खोलने की बारी आयी।

ज्यो-ज्यो दिन बीतते गये, हम नये वातावरण के अभ्यस्त होते गये। किन्तु हफ्तो तक मेरा भाई और बहन तथा मैं उस वातावरण में प्रसन्न नही हो पाये। हम अपने को अन्यमनस्क और अजनबी महसूस करते थे। घर मे बाहर मैं अनुभव करती कि मैं एक ऐसी दुनिया मे हूँ, जो मैत्रीपूर्ण होते हुए भी वास्तविकता से दूर है।

जब हम हार्टफोर्ड गये थे, तब भी मुझे ठीक ऐसा ही अनुभव हुआ था। यदि कुछ चीज सत्य थी, तो वह थी मैं, मेरा परिवार और मेरा घर। शेष सब जैसे अनिश्चित और अयथार्थ प्रतीत होता था।

उन दिनो आरभ में, कुछ सप्ताह तक हम दिल्ली में जिन अमरीकी लोगो से मिले, वे भी हमें वैसे ही अनजान लगे, जैसे कि भारतीय। जिन लोगो मे हम अपने देश में परिचित थे, उनमे ये दोनो ही वर्ग बिलकुल अलग लगते थे। मुझे शीघ्र ही पता लग गया कि मेरे चारो ओर एक व्यूह बनता जा रहा है। मैंने समझ लिया कि यदि मुझे खुश रहना है, तो मुझे उसके बाहर निकलना होगा।

की सारी जाति-व्यवस्था तेजी से ढीली पड रही है। वास्तव में जात-पांत की व्यवस्था कानूनन समाप्त हो चुकी है।

फिर भी जहाँ तक नौकरो का सम्बन्ध है, हर नौकर सिर्फ अपना विशेष प्रकार का काम ही करेगा, धोबी खाना नही पकायेगा, रसोइया कपडे नही धोयेगा, बटलर बगीचे का काम नही करेगा, माली खाना परोसने के काम में हाथ ही नही लगायेगा, इत्यादि। और यदि हम, जिनका आदर किया जाता था और जिनके दर्जे को ऊँचा समझा जाता था, हस्तक्षेप करते और कुछ काम खुद ही करते तो नौकर बुरा मानते। वे या तो यह मानते कि, हम उनके काम की आलोचना कर रहे हैं या यह कि हम अपने को नीचा गिरा रहे हैं।

जब हम व्यक्तिगत रूप मे नौकरो को ज्यादा अच्छी तरह जान गये, तब हमने उन्हे अपने अमरीकी रहन-सहन के ढग को समझाया कि किस प्रकार अमरीका मे लोग अपना अधिकाश या सारा घरेलू काम खुद ही करते हैं, किस प्रकार उन्होने अपने घरेलू काम को आसान बनाने के लिए घरेलू काम की मशीनें बनायी हैं। इसके बाद वे अच्छी तरह समझ गये कि हम क्यो अपना इतना सारा काम खुद करने पर जोर देते हैं और आगे चल कर उन्होंने इसको बुरा मानना छोड दिया। उनमे से कुछ के लिए दूसरे घरो में हमने अच्छी नौकरियाँ खोज दी।

उनमें यह समझ धीरे-धीरे आयी। कुछ नौकर हमारे अमरीकी तरीको को वास्तविक रूप में समझे बगैर केवल हमारी बातो के अभ्यस्त ही हुए। एक दिन मै अपने मकान के पिछवाडे वाले आँगन में, उस तरफ, कुछ नौकरो के बच्चो के साथ खेल रही थी, जहाँ वे अपने माता-पिता के साथ रहते थे। जिस गेंद से हम खेल रहे थे वह उस नाली में जा गिरी, जो बाहर गली की मोरी तक गयी थी। उन छोटे बच्चो मे से एक, जिसका नाम लीला था—गेंद को पकडने के लिए मेरे साथ आ गयी। तब मैंने ध्यान दिया, वैसे मैं पहले भी कई बार देख चुकी थी, कि वह मोरी कितनी गन्दी और कीचड से भरी हुई थी।

मैंने लीला के सामने सुझाव रखा, "अगर हम इसे साफ करके उम्दा बना

दे तो कैसा मज़ा आये ?" वह बोली, "अरे, नही बहनजी ! तुम ऐसा काम हर्गिज़ मत करना ।"

"यह तो खेल है, काम थोडे ही है," मैंने कहा; वह बोली, "अच्छा" और हमने सफाई शुरु कर दी ।

काम ठीक चल रहा था कि ड्राइवर जीवन की बीबी आ पहुँची और हम लोगो को काम करते देख कर दग रह गयी । हमारे हाथ कीचड में सने हुए थे और चेहरे गन्दे थे । दूसरे बडे-बूढे भी दौड कर आ गये । उन्होंने हमें बुरी तरह डाँटा और मुझे तुरन्त काम बन्द करके हाथ-मुंह साफ करने के लिये कहा ।

उन्होने मुझसे कहा, "यह काम तुम्हारा नही, मदन का है" । (मदन भगी था और नीच जाति का था । वही यह सब गन्दा काम करता था ।)

किन्तु तभी हेड बटलर शकूर अहाते में आ पहुँचा और उसने उन्हे समझाया, "बहन जी के देश में लोग अपने हाथ गन्दे करने को बुरा नही समझते ।" उसने अमरीकी तौर-तरीको को जैसा कुछ समझा था, वह सब उन्हे बताया ।

शकूर, जीवन और दूसरे नौकरो ने मुझे व्यूह से बाहर निकलने में बडी मदद की । समय पाकर उनमें से कुछ तो मेरे बहुत ही अच्छे मित्र बन गये ।

तीन

वापस स्कूल में

हमारे नयी दिल्ली पहुँचने के कुछ समय बाद स्कूल का प्रश्न उठा । सैली, सैम और मैं अपने को अजीब परिस्थिति में महसूस करते थे और अपने नये वातावरण में हमें अपने घर की याद सताती थी । हमने सोचा, शायद स्कूल और वहाँ के नये सगी-साथी हममें वह भावना उत्पन्न कर सकें, जिससे हमारा विरानापन घटे और हम ज्यादा खुश रह सकें ।

हमने अनुभव किया कि अभी एकाध वर्ष हमारी स्कूली शिक्षा का महत्व इतना नही होगा । ज्योमेट्री और लैटिन तो हम कही भी सीख सकते हैं, किन्तु

भारत की जानकारी प्राप्त करना एक ऐसा अनुभव है जो केवल ऐसे विरले अवसर से ही प्राप्त हो सकता है—जैसा हमें मिला था, और अपने इस सद्भाग्य से हम अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते थे।

यह विचार करके हमने दिल्ली और दिल्ली के निकट के स्कूलो के बारे में पूछताछ शुरू कर दी। अधिकाश अमरीकियो ने वुडस्टाक स्कूल जाने की सलाह दी। यह श्रेष्ठ आवास स्कूल दिल्ली से लगभग तीन सौ मील उत्तर हिमालय पर्वत की सुन्दर घाटी में है। उत्तर भारत में रहने वाले लगभग सभी अमरीकी अपने जूनियर और सीनियर हाईस्कूल के बच्चों को इसी स्कूल में भेजा करते थे। यह स्कूल मुख्यत अमरीकी लोगो के लिये था और उसमें पाठ्यक्रम एक अमरीकी हाईस्कूल के प्रारम्भिक पाठ्य-विषय के समान ही था।

किन्तु हमें पता चला कि उसमें ज्यादा से ज्यादा एक चौथाई विद्यार्थी भारतीय थे, और अध्यापक तथा कर्मचारी अधिकतर अमरीकी थे। वुडस्टाक में हम अपनी हाईस्कूल-शिक्षा को जारी रख सकते थे और समय आने पर हमें अमरीका के किसी भी कालिज में प्रवेश पाने में कोई कठिनाई नही होती। किन्तु हम भारत के बारे में कुछ भी न सीख पाते। जहाँ तक परम्परागत शिक्षा का सम्बध था वह तो हम कनेक्टीकट में अपने घर रहकर ही प्राप्त कर सकते थे।

एक भारतीय महिला ने, जिससे स्टेब का दूतावास में मिलना हुआ था, नयी दिल्ली के किसी ईसाई स्कूल में भरती कराने की सलाह दी। इस प्रकार के वहाँ दो स्कूल थे। दोनो को कैथोलिक मिशनरी चलाते थे। स्कूल दोनो अच्छे थे, किन्तु उनमे विद्यार्थियो की सख्या स्थान से अधिक थी। जब स्टेब ने हमें वहाँ भरती कराने की बात की तो वहाँ के मत्री ने उत्साहजनक उत्तर नही दिया।

चूँकि हम तो ऐसे ही स्कूल में जा सकते थे, जहाँ पढाई अग्रेज़ी में होती हो, इसलिए हमारे सामने सिर्फ तीन स्कूल और थे। लडकियो का लेडी इरविन सेकेन्डरी स्कूल श्रेष्ठ स्कूल था। गृह-अर्थशास्त्र की शिक्षा उस की विशेषता थी, सैली को और मुझे इसमें रुचि थी। लेकिन हम तीनो एक ही स्कूल में जाना चाहते थे। इसलिए हमने किसी सहशिक्षा वाले स्कूल में भरती होने का फैसला किया।

नयी दिल्ली का माडर्न स्कूल प्रगतिशील सस्था थी। वह रूढिवादी अग्रेज़ी

स्कूलो की शैली की नही थी। उसके पाठ्यक्रम के विषय कालेज जाने की तैयारी के वैसे विषयो तक ही सीमित नही थे, जैसे कि अधिकाश अन्य स्कूलो में थे। इसका पाठ्यक्रम मुझे इस नयी पीढी के लिए बहुत उपयुक्त लगा, जिसे स्वतत्र और गरीबी से मुक्त भारत का निर्माण करना था। दुर्भाग्य से हमे यह गलत सूचना मिली कि माडर्न स्कूल केवल हिन्दी मे शिक्षा देता है, जो उत्तर-भारत की मुख्य भाषा है। हमने समझा, यह स्कूल भी छूटा, कम-से-कम उतने महीनो के लिए तो छूटा ही, जितने मे कि हम हिन्दी सीखें।

आखिर जो स्कूल हमने चुना, वह था दिल्ली पब्लिक स्कूल। दरअसल अमरीकी अर्थ मे यह स्कूल नही था, क्योकि उसमे पच्चीस रुपये महीना फीस ली जाती थी। उसमे सहशिक्षा थी और हमारे घर से दो ही मील पर था; इसलिए आने-जाने की असुविधा नही थी। इसमें भी विद्यार्थियो की सख्या अधिक थी, किन्तु कक्षाएँ तम्बुओ मे लगती थी, जो विद्यार्थियो की सख्या के अनुसार बढाए तथा घटाए जाते थे।

जिस समय हमने दिल्ली पब्लिक स्कूल में प्रवेश किया उस समय वहाँ के शिक्षक और तेरह सौ विद्यार्थी, सभी भारतीय थे, सिवाय एक इण्डोनेशियाई परिवार के बच्चो के, जो आगे चलकर हमारे घनिष्ठ मित्र हो गये। ये विद्यार्थी कई धर्मो के थे—हिन्दू, मुस्लिम, सिख, बौद्ध और ईसाई। वहाँ के प्रिन्सिपल एक अग्रेज सज्जन थे, जो कभी बहुत खुश रहते थे, तो कभी बहुत कठोर। स्कल को वह ऐसे चलाते थे, मानो वह ग्रेट ब्रिटेन में कोई निजी स्कूल चला रहे हो।

स्कूल जाने का वह पहला दिन मुझे खूब याद है। पडोस के दो लडके, जो पब्लिक स्कूल में पढते थे, पहले ही मेरे भाई सैम के मित्र बन चुके थे। वे तीनो साढे आठ बजे अपनी बाइसिकलो पर स्कूल चले गये। स्कूल नौ बजे लगता था, इसलिए कुछ देर मे, सैली के साथ मैं भी चल पडी।

चूँकि हमारी अपनी बाइसिकले अमरीका से आयी नही थी, इसलिए हमने अपने लिए नयी दिल्ली के बहुत कुछ पश्चिमी ढग के बाजार कनाट प्लेस के एक साइकिलवाले से दो साइकिले किराये पर मँगा ली थी। ये साइकिलें पुरानी थी और हम ज्यादा दूर नही गये होगे कि सैली की चेन ढीली होकर उतर गयी। एक तो हमें साइकिल की मरम्मत का कोई अनुभव नही था, दूसरे एक अपरि-

चित-सी दुनिया में कदम रखने पर हम सहमे हुए-से थे। अतएव इस मुसीवत से हम बुरी तरह घबरा गये।

अब हमारे सामने प्रश्न यह था क्या हम साइकिलो को लिये-लिये पैदल घर लौटें और शकूर से साइकिले ठीक कराएँ (ऐसी दशा में, पहले दिन ही स्कूल पहुँचने में देर हो जाती) या उन्हे लिये-लिये स्कूल का ही बाकी रास्ता पैदल तय करें ? हम इसी पसोपेश मे थे कि सैम का एक नया मित्र स्कूल जाते हुए उधर से गुज़रा। उसने हमें पहचानकर हमारी परेशानी का सबब पूछा। हमने उसे चेन दिखाई। उसने पलक झपकते ही चेन चढा दी। इस पर हमें बडी शर्म आयी। उसे धन्यवाद देकर हमने अपना रास्ता लिया और ठीक समय पर स्कूल पहुँच गये। हमने अपनी साइकिले दूसरी सैकडो साइकिलो के साथ खडी कर दी और अपनी-अपनी कक्षा के तम्बू मे जा पहुँचे।

स्पष्ट था कि यह वात फैल चुकी थी कि तीन अमरीकी स्कूल में दाखिल हुए हैं। मैं उच्चतम कक्षा में भरती हुई थी, जो अमरीकी हाईस्कूल के जूनियर या प्रारम्भिक वर्ग के वरावर थी। कक्षा में चौदह लडके और छ लडकियाँ थी। वे सव लडकियाँ मेरे पहले ही आ चुकी थी। अध्यापिका के क्लास में आने से पूर्व हमें कोई एक मिनिट का समय मिला और इतने मे हमने लजाते लजाते एक दूसरे का अभिवादन किया और वहुत सक्षेप में अपना परिचय दिया।

जव लडकियो ने हमारी कक्षा की वृद्धा अध्यापिका को आते देखा, उन्होने मुझसे तुरन्त अपनी जगह बैठ जाने को कहा। ज्यो ही अध्यापिका ने तम्बू मे प्रवेश किया, मैं भी कक्षा के साथ खडी हो गयी। अध्यापिका ने अपने कागजो को ठीक-ठाक किया और बैठ गयी, किन्तु मै तव चकित हुए विना न रह सकी, जव लडके और लडकियो ने एक स्वर से "गुडमार्निङ्ग मैडम!" कहकर उनका अभिवादन किया।

दिल्ली पब्लिक स्कूल के विद्यार्थी अपने शिक्षको के साथ जो हद से ज्यादा औपचारिक व्यवहार करते थे, वह मेरे लिए विलकुल नई चीज़ थी, और सच तो यह है कि मैं कभी उसकी अभ्यस्त नही हो पायी। यह वात मुझे हमेशा चुभती थी कि हम विलकुल वच्चो की तरह अपनी शिक्षिका की मौजूदगी में उसके प्रति बेहद आदरभाव दिखाने का स्वाग करते, लेकिन उसकी पीठ पीछे या जव वह कक्षा में नही होती, तव अपनी मनमानी करते।

हाज़िरी हो जाने के बाद हम दस साल के बच्चो की तरह कतार बनाकर एक तम्बू के पीछे की खुली जगह में गये। वहाँ सारा स्कूल आधा घेरा बनाकर प्रार्थना के लिए जमा था। जब हम सब शात हो गये, हमारे अग्रेज़ प्रिन्सिपल ने एक प्रार्थना सुनायी और फिर स्कूल से दो और प्रार्थनाएँ करवायी, जिनमें से एक 'लार्ड्स प्रेयर' थी। हम सब बच्चे ही तो थे, प्रार्थना में हमारी ज़रा भी रुचि नही थी। तोते की तरह बगैर सोचे-समझे हमने उन शब्दो को दोहरा लिया। शिक्षिका की पीठ के पीछे हम एक दूसरे की तरफ आँखे मटकाते और एक दूसरे के बालो को खीचते, हाँ, पहले ही दिन हमने यह शरारत नही की।

प्रार्थना के बाद मेरा पहला घण्टा खेल-कूद का था, जिसमे हमने बास्केट-बाल से मिलता-जुलता खेल खेला। इसके बाद भूगोल का घण्टा आया, फिर भारत के इतिहास का और अन्त में अग्रेज़ी व्याकरण का। ये सब के सब विषय अनिवार्य थे।

बारह बजे से ज़रा पहले हमे लच (मध्याह्न-भोजन) के लिए पौन घण्टा मिलता। सभी लडकियाँ अपने-अपने भारतीय ढग के भोजन के डिब्बे या तो साथ लायी थी या उनके नौकर लाये थे। शकूर ने थोडी-सी सैण्डविचे और कुछ सेव मेरे भाई, बहन और मेरे लिए बाँध दिये थे। मैंने अपने हिस्से का भोजन किया और मेरी सहपाठिनियो ने साग, दाल और चपातियाँ खायी।

लडकियाँ अमरीका की बातें सुनने को उत्सुक थी। सब से पहला प्रश्न जो उन्होने मुझसे किया, वह था कि क्या मैंने किसी सिने-तारिका को देखा है? (मैंने देखा था जेन रसेल को, जो न्यूयार्क से पेरिस तक हमारे ही हवाई जहाज़ में आयी थी।) इसी से मिलते-जुलते प्रश्नो की झडी लग गयी और मैंने यथा-शक्ति उनका उत्तर दिया, यद्यपि मुझे शीघ्र ही पता चल गया कि हालीवुड के बारे में उनकी जानकारी मुझसे ज्यादा थी।

मुझे अपनी बात समझाने में कठिनाई होती थी। अधिकाश लडकियाँ अग्रेज़ी शुद्ध बोलती थी, लेकिन मेरी अग्रेज़ी तो शुद्ध नही थी। और उसमें भी समझ में न आनेवाले अमरीकी बोलचाल के शब्दो का खासा प्रयोग रहता था। ऐसा लगता था, जैसे हम दो भिन्न भाषाएँ बोल रहे हो। लगभग एक महीने में मैंने भारतीय ढग की अग्रेज़ी बोलना सीख लिया और मेरे मित्र मेरी अमरीकी अग्रेज़ी से खासे परिचित हो गये।

मध्याह्न के भोजन के बाद चार घण्टे और होते थे। पहला धार्मिक शिक्षा का, जिसमें बाइबिल की व्याख्या होती थी। यह ऐच्छिक विषय था और अधिकाश विद्यार्थियो ने इस समय केमिस्ट्री (रसायन शास्त्र) या फिजिक्स (पदार्थ विज्ञान) ले रखा था। केमिस्ट्री और फिजिक्स विषय साथ-साथ पढाये जाते थे, जो दो वर्ष के पाठ्यक्रम का अतिम वर्ष था। चूँकि इनमें से कोई भी विषय मैंने पहले नही पढा था, इसलिए मैंने धार्मिक शिक्षा पसन्द की।

धार्मिक शिक्षा के बाद गणित की कक्षा लगती थी। गणित भी मेरी पढाई से काफी आगे का था। बाद में इस घण्टे में ज्योमेट्री पर मेरे साथ ज्यादा मेहनत की जाने लगी। गणित भी ऐच्छिक विषय था, और कुछ लडकियो ने उसके बजाय गृहकार्य और आरोग्यशास्त्र ले रखा था। अन्तिम घण्टे से पहले वाला घण्टा कला का था और अन्तिम हिन्दी का।

इसके बाद उस दिन की पढाई समाप्त हुई और लडकियाँ मुझे स्कूल के मैदान की सैर कराने ले गयी। स्कूल के सभी काम, सिवाय छोटे से दवाखाने के, तम्बुओ में होते थे। जिन तम्बुओ में कक्षाएँ लगती थी वे काफी बडे थे, और उनमें बीस लडके आराम से बैठ सकते थे। उनमें न तो बिजली की रोशनी थी, न पखे, न खिडकियाँ, लेकिन एक ओर से वे बिलकुल खुले थे।

प्रिन्सिपल और वाइस प्रिन्सिपल का तम्बू छोटा था और उसमें बिजली की रोशनी और पखे की अच्छी व्यवस्था थी; प्रशासकीय कार्यालय में भी यही व्यवस्था थी। एक और छोटे तम्बू में दुकान थी जहाँ किताबें, कागज, पेन्सिलें, कलमें आदि मिलती थी। उसके पास वाले तम्बू में खेल-कूद का सामान रखा जाता था। एक तम्बू में पुस्तकालय था और फिर एक दुकान थी—जिसमें कैण्डी, फल और आइसक्रीम तथा खाने का स्वादिष्ट तला हुआ सामान बिकता था। दवाखाने की छोटी-सी गुम्बदनुमा इमारत पत्थर की थी। यह स्थान आश्चर्यजनक रूप से ठडा था। इसे शायद मकबरे के रूप में पन्द्रहवी सदी में मुसलमानो ने बनवाया था।

तम्बुओ में स्कूल लगने की बात शायद मुश्किल से ही कल्पना में आती है। मुझे यह स्कूल बहुत भा गया; यद्यपि हमें गर्मियो में बेहद गर्मी और सर्दियो में बेहद सर्दी लगती फिर भी हमें हमेशा ताजी हवा मिलती थी और मुझे प्रकृति के निकट रहना पसन्द था।

सभी किस्म के जगली जीव तम्बुओ मे आ जाते थे। छोटी-छोटी गिलहरियो को तम्बू की रस्सियो पर दौड लगाने और छत पर खडबडाहट करने में बडा मजा आता था। तरह-तरह की चिडियाँ भीतर-बाहर फुदकती रहती थी और बडे-बडे काले व सफेद बाज स्कूल के ऊपर मँडराया करते थे, जिनकी लम्बी परछाई हमारी पृथ्वी पर पडती थी। एक दिन हमने साँप को मार डालनेवाला नेवला देखा जो तम्बू के कोने से झाँककर तुरन्त नौ-दो ग्यारह हो गया।

स्कूल की ज़मीन के सिरे पर खेलने के दो बडे-बडे मैदान थे—एक फुटबाल, हाकी, और क्रिकेट के लिए, दूसरा नेटबाल के लिए जो बासकेट बाल जैसा खेल होता है। नज़दीक ही वालीवाल और बैडमिण्टन के लिए दो छोटे मैदान थे। जब हम उधर से गुजरे तब छोटी कक्षाओ के दो दल हाकी खेल रहे थे।

हमारा स्कूल नगर के आखिरी छोर पर था। पहले दिन जब हम दवाखाने जाने के लिए वहाँ की छोटी-सी पहाडी पर चढे, आस-पास का भूभाग लगभग निर्जन-सा लगा। वैसे वह बिलकुल समतल था, किन्तु कही-कही पथरीले टीले, कुछ छोटे-छोटे वृक्ष और बहुत-सी छोटी-छोटी हरी झाडियाँ दिखलाई देती थी। मेरे भारत छोडने से पहले स्कूल के इर्दगिर्द नये-नये घर और कई कमरोवाली इमारते बन चुकी थी।

लगभग चार बजे मेरी नयी सहेलियाँ साइकिले खडी करने के स्थान तक मेरे साथ आयी (वे स्कूल की बस से आती-जाती थी) और मैने उनसे विदा ली, अब भी मैं कुछ लजा रही थी, लेकिन प्रसन्न बहुत थी। घर पहुँच कर मैली, मैम और मैने यह स्वीकार किया कि कुल मिलाकर भारत में रहना वास्तव मे कष्टप्रद नही है। यद्यपि नये वातावरण में आने का साहस करते हुए और अपने समवयस्क लोगो से मिलने-जुलने मे हमें भय-सा लग रहा था, लेकिन हमने साहस करके जो पाया उससे हमे प्रसन्नता हुई। हमें विश्वास हो गया कि दिल्ली पब्लिक स्कूल की पढाई हमारे लिए आनन्दप्रद सिद्ध होगी।

बाद के महीनो में मैं हमेशा दिल्ली पब्लिक स्कूल की तुलना अपने अमरीकी हाईस्कूल से किया करती थी। मैं दिल्ली स्कूल की औपचारिकता और नियमबद्धता का जिक्र पहले कर चुकी हूँ। दोनो की पढाई के तरीके भी बहुत भिन्न थे।

उदाहरण के लिए दिल्ली पब्लिक स्कूल मे, भारतीय इतिहास की कक्षा मे, हमसे आशा की जाती थी कि जिन अशो को अध्यापिका अपनी इतिहास की पुस्तक में से पढे उसपर ध्यान जमाकर हम उन्हे याद कर ले और समझ ले। उन पर न वहस होती थी न प्रश्न पूछे जाते थे। जो कुछ किताब में लिखा था उमसे ज्यादा अध्यापिका कुछ नही वताती थी। यह तो एक प्रकार का व्यायाम था, पाठ नही।

दूसरी कक्षाओ में भी हमें लगभग इसी ढग से पढाया जाता था। कला की कक्षा में, अध्यापिका ब्लैकवोर्ड पर जो कुछ वना देती थी, हमें उसकी नकल करके रग भरना होता था।

मौलिक ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में वाधक ऐसी शिक्षा के प्रति हमारा आकर्पण कैसे कायम रहता। यह तो अभ्यास पर वोझ ही है। अत मुझे अपनी कक्षाएँ अरुचिपूर्ण और प्रेरणाहीन लगती। परन्तु मुझे विश्वास है कि यदि मैं वास्तव में सीखने और ऊंचे अंक पाने पर ध्यान देती तो मैं यहाँ भी उतना ही सीख सकती थी, जितना मैं अपने देश में रह कर सीख सकती।

मेरे देश के स्कूल और दिल्ली पब्लिक स्कूल में एक और वहुत वडा अन्तर था और वह था परीक्षा के ढग का। एसेक्स मे पूरे वर्ष समय-समय पर परीक्षाएँ होती रहती थी और वार्षिक परीक्षा नही होती थी। उन्ही परीक्षाओ और हमारे कक्षा के तथा घर के काम के अनुसार हमें स्थान मिलता था। दिल्ली पब्लिक स्कूल में प्राय हर हफ्ते परीक्षाएँ होती और फिर इगलैंड के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के द्वारा निर्धारित वार्पिक परीक्षा होती थी। वहुत से विद्यार्थी असफल हो जाते और उन्हे अगले साल फिर परीक्षा देनी पडती।

दिल्ली पब्लिक स्कूल भारतीय हाईस्कूल के नमूने का नही था। चूँकि उसमें सह-शिक्षा थी इसलिए वह भारत के अधिकाश हाईस्कूलो से भिन्न था। हाईस्कूल में लडके और लडकियाँ साथ-साथ पढे—ऐसा आम चलन नही है।

फिर भी सह-शिक्षा के अतिरिक्त दिल्ली पब्लिक स्कूल विशिष्ट वर्ग के भारतीय हाईस्कूलो के नमूने का कहा जा सकता था। ऐसे अधिकाश स्कूल ब्रिटिश-शासन के समय अंग्रेज अध्यापको के द्वारा स्थापित किये गये थे। और वे उसी तरह के हैं जैसे तीस साल पहले ग्रेट- ब्रिटेन के हाईस्कूल होते थे।

ये स्कूल निजी रूप से लोग या कुछ लोग मिल कर चलाते हैं और तीन से दस डालर तक मासिक फीस लेते हैं। पढाई अँग्रेजी मे होती है और परीक्षाएँ सीनियर केम्ब्रिज की या और इसी तरह की होती हैं। इनका पाठ्य-क्रम अमरीका के कालेज में प्रवेश करने की तैयारी के पाठ्यक्रम जैसा होता है। भारत में हाईस्कूलो की सख्या बहुत काफी है और उनमें अधिकाश इसी तरह के हैं जिसका कि मैं अभी वर्णन कर चुकी हूँ।

भारत में, इस समय, सार्वजनिक शिक्षा किसी प्रकार से उतनी उन्नत नही है जितनी अमरीका मे। फिर भी अमरीका मे अधिकाश राज्यो और स्थानीय प्रशासनो ने प्रारम्भिक पाठशालाओ के निर्माण में और माध्यमिक पाठशालाओ की सख्या बढाने में सहायता दी है। ये पाठशालाएँ दिल्ली पब्लिक स्कूल से अलग ढग की हैं। इनकी स्थापना स्वाधीनता मिलने के बाद हुई, इन्हे सरकारी सहायता मिलती है। इनमे या तो फीस ली ही नही जाती और ली जाती है तो बहुत कम। इनमे प्राय अँग्रेज़ी का स्तर नीचा होता है, पढाई हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषा में होती हैं। इनमे विद्यार्थियो को राज्य अथवा स्थानीय परी-क्षको द्वारा निर्धारित परीक्षाओ के लिए तैयार किया जाता है। इन स्कूलो के पाठ्यक्रम में कालेज की तैयारी के लिए व्यवस्था होती है लेकिन कम। बहुधा गृहकार्य, कृषि और शिल्प की शिक्षा शामिल रहती है।

केन्द्रीय सरकार पुरानी शिक्षा पद्धति की खामियो को समझती है, यद्यपि छोटी आयु के आधे से अधिक बच्चे, गाँवो में भी इस समय स्कूल जाते हैं; फिर भी ग्यारह से सत्रह साल की आयु तक के केवल १० प्रतिशत बच्चो को ही शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

भारत के सविधान का यह आदेश है कि चौदह साल तक के सब बच्चो को नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा दी जायगी। इस माँग को और बच्चो की अपनी माँगो को पूरा करने के लिए सारे भारत के गाँवो, कस्बो और नगरो मे तेजी से स्कूल बनवाये जा रहे हैं। भारत की अधिकाश जनता गाँवो में रहती है और उसमे शिक्षा का प्रसार तेजी से हो रहा है। वैसे तो, मैं आशा करती हूँ कि भारत मे गाँव सदैव बने रहेंगे, किन्तु नया देश अपने महान प्रयोग द्वारा यह साबित कर रहा है कि गाँवो मे हमेशा ही निरक्षरता नही रह सकती और निरक्षरता तथा ग्रामीणजन हमेशा पर्यायवाची शब्द नही बने रह सकते।

चार

नयी मैत्री

दिल्ली पब्लिक स्कूल के बारे में सैम, सली और मेरी धारणा अलग-अलग थी। किन्तु, हम इस बात पर एकमत हैं कि हमने जो मित्रता वहाँ पैदा की वह स्कूल में हमारे अनुभव का सबसे सुखद और अमूल्य भाग है।

यद्यपि सुमन मुझसे हर प्रकार से भिन्न थी फिर भी परिचय होने के बाद यह सुन्दर और बाहर घूमने-फिरने वाली लडकी मुझे सबसे ज्यादा भायी। मुझे याद है कि जिस दिन मैं पहली बार स्कूल गयी थी, वह मुझे अपनी सब सहपाठिनियो से ज्यादा स्पष्टवादी और जिज्ञासु लगी थी।

जिस प्रकार मैंने भारत आने से पहले भारतीय लडकियो के बारे में एक राय बना ली थी, उसी तरह सुमन के मन में भी अमरीकी लडकियो की एक काल्पनिक मूर्ति थी, जो मुख्यत हालीवुड के अनेक चित्रो पर आधारित थी, जो उसने देखे थे। इसलिए उसे इस बात पर बडी निराशा हुई कि उसकी उम्र की सबसे पहली अमरीकी लडकी जो उससे मिली उसकी यानी मेरी बात-चीत का ढग, रूप, रग, हाव-भाव आदि बिलकुल वैसे नही थे जिनकी कि उसने अमरीकी लडकियो के बारे में कल्पना की थी। लेकिन वह मित्र बनने के लिए उत्सुक थी और अक्सर, स्कूल के शुरू के कुछ सप्ताहो में, वह कुछ असुविधा उठाकर भी मेरा साथ देती थी।

स्कूल जाना शुरू करने के लगभग एक महीने बाद सुमन ने मुझे नयी दिल्ली में फिल्मो से परिचित कराया। रिवोली थिएटर कनाट सर्किल के बहुत नजदीक है। कनाट सर्किल धनीमानी वर्ग की दुकानदारी का केन्द्र है। स्कूल से हम वहाँ बस से गये। थिएटर में पहले से ही काफी भीड थी। सुमन ने बताया कि अधिकाश लोग कालेज के विद्यार्थी थे या युवक-ग्रेजुएट जिनकी अभी नौकरी-चाकरी नही लगी थी। लडकियाँ कम थी और मैं अपने अमरीकी कपडो में अलग दीख रही थी, इसका मुझे खुद एहसास हो रहा था। उस समय मेरी इच्छा हुई कि काश मैं भी सुमन की तरह ढीली-ढाली सलवार पहने होती।

सलवार टखनो तक लम्बी पतलून जैसी होती है। उसकी कमर लगभग दो गज की होती है और नाडे से बाँधी जाती है। सलवार प्राय सफेद सूती कपडे की बनाई जाती है। कभी-कभी उसी रग और नमूने के कपडे की भी होती है जिसकी कि कमीज। कमीज़ बहुत कुछ पुरुषो की कमीज़ जैसी होती है। कमर पर न बहुत ढीली होती है न बहुत चुस्त। यह बहुत कुछ फ्राक के नमूने की होती है और सलवार पर पहनी जाती है। अमरीकी लडकियो के पहनावे की तरह उसकी लम्बाई, रग, कपडे और नमूनो मे पहननेवालियो की अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार भेद रहता है।

सुमन ज़्यादातर चटकीले रग की, बडी छपाईवाली, घुटनो तक की सूती कमीज पहनती थी। लम्बी कमीज़ का उस वक्त फैशन था और स्कूल तथा कालेज की अधिकाश लडकियाँ घुटनो तक की या उससे भी ज़रा नीची कमीज़ पहिनती थी।

सलवार और कमीज़ के अलावा, दिल्ली की लडकियाँ एक ओढने को भी काम मे लाती हैं, जिसे चुन्नी या दुपट्टा कहते हैं। दुपट्टा महीन कपडे का और छ फुट लम्बा तथा दो फुट चौडा होता है। यह दुपट्टा लडकियाँ कधो पर से पीठ पर डाल लेती हैं। कुछ लडकियाँ अपनी रुचि के अनुसार उससे सर भी ढँके रहती हैं।

सलवार और कमीज ख़ास तौर से पजाब का पहनावा है। पजाब प्रान्त दिल्ली के उत्तर में है। हाल ही में समूचे भारत की बहुत-सी लडकियो ने, खेल-कूद और काम के समय के लिए असुविधाजनक साडी के बजाय इस पहनावे को अपना लिया है।

सुमन मेरे ख़याल से, जो भी पहन लेती उसी में सुन्दर दिखती थी, किन्तु उस दिन सिनेमा में वह हल्के और गहरे हरे रग की छपी हुई सूती क़मीज के साथ सफेद सूती सलवार और चुन्नी में ख़ास तौर से मोहक लग रही थी। उसने लिपस्टिक भी लगा रखी थी। कुछ पश्चिमी फैशन की बडी उम्र की लडकियाँ ही लिपस्टिक लगाने लगी हैं। सुमन ने अपने घने काले बालो की दो चोटियाँ गूँथ रखी थी। उसकी कलाइयो में शीशे की बहुत-सी चूडियाँ पडी थी, जो रह-रह कर झनक रही थी। जब हम थिएटर मे टिकट

की खिडकी पर गये उस समय मैं सुमन की तुलना में अपने को वहुत मामूली महसूस कर रही थी।

थिएटर वहुत-कुछ वैसा ही था जैसा अमरीका का कोई भी थिएटर हो सकता है, यद्यपि, यह मैं अवश्य कहूँगी, कि वह कनेक्टीकट में, मेरे घर के निकट के किसी थिएटर से ज्यादा शानदार था। उस में तीन श्रेणियो की सीटे थी और हर एक के लिए टिकट जुदा-जुदा कीमत के थे। एक रुपये चार आने का सस्ता टिकट खरीदने वालो को पर्दे के सामने आगे बैठना पडता है। यह सस्ते से-सस्ता टिकट भी वहुत-से भारतीयो के वश से वाहर की वात है। महँगे-से-महँगा टिकट तीन रुपये वारह आने का था। हमने जो टिकट खरीदा उसके ढाई रुपये लगे। अधिकाँश लोग यही टिकट खरीदते हैं। हमने कुछ केक, पोटैटो चिप्स खरीदे और थिएटर में पहुँचकर भारतीय और लोकप्रिय अमरीकी सगीत सुनते हुए खेल शुरू होने की प्रतीक्षा करने लगे।

तीन छोटी न्यूज रीलें दिखाई गयी। एक भारतीय समाचारो की थी, दूसरी विश्व के समाचारो की और तीसरी अमरीकी समाचारो की। इसके वाद वहुत से विज्ञापनो और एक कार्टून का प्रदर्शन किया गया। फिर हालीवुड की फिल्म 'फ्रैंसिस गोज टू द रेसेज' दिखाई गयी।

नयी दिल्ली और दूसरे वडे शहरो में हालीवुड के वहुत-से चित्र दिखाए जाते हैं। मैं कभी-कभी ही सिनेमा जाती थी और जव कभी जाती तो प्राय सुमन के साथ। वह ऊँची आय वाले वहुत से भारतीय परिवार की लडकियो की तरह लगभग प्रति सप्ताह जाती थी। समय-समय पर मैंने 'कम वैक लिटिल शीवा", इग्रिड वर्ग मैन की "गैस लाइट", "स्केरामूशे" और एक वाव होप की फिल्म देखी। फिल्म देखनेवाले अधिकाश भारतीय अमरीका के वारे में अपने विचार और धारणाएं मुख्यतया ऐसे ही चित्रो के आधार पर निर्धारित करते हैं। मुझे याद है कि "कम वैक लिटिल शीवा" के उन दृश्यो को देख कर मैं वेहद सकुचायी थी जिनमें हाईस्कूल का एक लडका अपनी एक मित्र लडकी के प्रति अनुचित व्यवहार करता है, परन्तु वह लडकी उसे कडाई के साथ नही रोकती।

अमरीका में इस फिल्म में मुझे आनन्द आता और उन दृश्यो की ओर मेरा ध्यान भी न जाता किन्तु नयी दिल्ली के थिएटर में मैंने अनुभव किया

कि जो कुछ भी चित्रित किया गया था उस का सार मैं तो समझती थी, दूसरे दर्शक नहीं समझते थे। इस समझ के बिना भारतीय फिल्म-दर्शक यही समझ पाते हैं कि अमरीकियों में शील और नैतिकता की बहुत कमी होती है।

फिर भी 'कम बैक लिटिल शीबा' जैसी स्त्री फिल्म नहीं थी जैसी कि हालीवुड बराबर दिल्ली और अन्य भारतीय तथा एशियाई शहरों को भेजा करता है। उदाहरण के लिए हमारे कुछ 'वेस्टर्न' चित्र लीजिये जिनमें अमरीकी इण्डियनों के प्रति ज्यादातर बहुत ही बेढंगा और उद्दण्डतापूर्ण रुख दिखाया जाता है। अमरीका मे ही ये फिल्मे बुरी लगती हैं, और नयी दिल्ली मे तो और भी ज्यादा बुरी लगती हैं। ये फिल्मे न केवल अमरीकी जीवन के बारे मे भारतीयो मे गलत धारणाएँ पैदा करती हैं, बल्कि उनमें से बहुत-सी वैभव और विलास का ऐसा बढा-चढा चित्र प्रस्तुत करती हैं, जो औसत भारतीय फिल्म देखनेवाले के अनुभव से बहुत परे होता है, और इसलिए वह मेरे एक लेखनी-मित्र के समान इस निर्णय पर पहुँचता है, कि अमरीका तो "पृथ्वी का स्वर्ग" है। हालीवुड की फिल्मे ऐसो के लिए अपने वातावरण से वास्तविकताओ को भुला देने का काम करती है।

इन फिल्मो की एक और भी प्रतिक्रिया होती है। यह शायद ज्यादा रचनात्मक होती हैं। भारतीय युवक-युवतियाँ और कालेज के लडके-लडकियाँ अमरीकी युवक-युवतियो को स्वाभाविक और निकट के साहचर्य का आनन्द प्राप्त करते देखते हैं, उन्हे साथ-साथ स्कूल, चर्च और पार्टियो में जाते तथा साथ-साथ नृत्य करते देखते हैं। यह चीज़ उन्हे अपने यहाँ के उन बन्धनो के बारे में विचार करने को मजबूर करती है—जो जातिभेद, सयुक्त परिवार की प्रथा, और समाज के सामान्य उच्च नैतिक स्तर ने उन पर लाद रखे हैं। और तब इन बन्धनो के प्रति उनमें असतोष पैदा होता है।

इटली की फिल्में भी भारत में लोकप्रिय हैं और वैसी ही भ्रममूलक। सुमन और मैंने "बिटर राइस" और 'बाइसिकल थीफ" चित्र देखे। फरवरी १९५२ में नयी दिल्ली में अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह हुआ। तब हमने जापानी और रूसी फिल्में भी देखी।

सयुक्त राज्य अमरीका के बाद भारतीय फिल्म उद्योग सब से बडा है।

सुमन तथा अपने दूसरे मित्रो के साथ हमने काफी भारतीय फिल्में देखी। उनमें से अधिकाश फिल्में अपनी लम्बाई और एक के बाद एक जन्म, मृत्यु, विवाह, बीमारी तथा दुर्घटनाओ जैसी तरह-तरह की और बहुत-सी मुसीबतो के चित्रण के कारण हालीवुड की "गान विद द विन्ड" जैसी लगती हैं। बहुत-से चित्रो में हँसी-खुशी और दुख का असफल मिश्रण किया गया था। उनमें भारतीय जीवन का वैसा ही अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण किया गया था जैसा हालीवुड की फिल्मो में अमरीकी जीवन का किया जाता है। अक्सर वे भारत के गौरवशाली अतीत से सबधित होती हैं।

मेरी बहुत दिनो से इच्छा थी कि कही भारतीय विवाह देखने को मिले। इसलिए जब जनवरी के अन्त में सुमन ने मुझसे अपनी एक सहेली की शादी में चलने के लिए पूछा तो मुझे बडी प्रसन्नता हुई। शादी उसी रात को होनेवाली थी और सुमन ने तय किया कि वह शाम को ही मुझे ले जायगी। ५ बजे जब वह मोटर से आयी, मैं तैयार थी। सुमन साडी पहने हुए थी और आश्चर्यजनक रूप से बडी दिख रही थी। साडी हल्के गुलाबी रग के रेशम की थी, जिस में कधे से लटकनेवाले पल्लू पर सैकडो छोटे-छोटे रुपहरी सितारे टके हुए थे। वह लम्बे चमकदार इयररिंग और सोने के बहुत ही सुन्दर और सादे कगन पहने हुए थी।

अमरीका के लिए इस प्रकार का बढिया ज़ेवर बहुत अमीरी का सूचक होता; किन्तु सुमन का परिवार कोई खास अमीर नही था। सोने और चाँदी के ज़ेवर भी दिल्ली में अपेक्षाकृत सस्ते थे और साधारण आमदनी वाले परिवारो की लडकियो के लिए भी महगे दीखने वाले आभूषण पहनने का रिवाज़ है।

हम दिल्ली की भीड-भाड वाली सडको से होकर गुज़रे। पार्कों में पूरे-के-पूरे परिवार और युवक-विद्यार्थी कामकाज और पढाई-लिखाई के बाद वैसे ही आराम कर रहे थे जैसे दुनिया में सभी जगह करते हैं। शहर पार करके हम वधू के घर पहुँचे। चूँकि वह घर पुरानी दिल्ली के बीचो-बीच एक बहुत ही गन्दी, सँकडी और भीडभरी गली में था, इसलिए यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि घर बडा और आरामदेह था और उसमें रहनेवाले लोग अग्रेज़ी

बोलते थे। जब हम पहुँचे तब घर वधू के मित्रो और रिश्तेदारो से भरा हुआ था। हमे एक कमरे में ले जाया गया, जहाँ कुछ महिलाएँ और लडकियाँ बैठी हुई बाते कर रही थी।

भावी वधू भी उनके बीच बैठी थी। उसने शादी की लाल रग की सुन्दर साडी पहन रखी थी और उस समय तक लजा नही रही थी। वर और उसके मित्रो के आते ही उसे लज्जा और सकोच का भाव अपनाना पडेगा। उसकी निकट की रिश्तेवालियाँ उसके पास बैठी उसकी सम्हाल-सुधार के लिए कुछ-न-कुछ किये ही जा रही थी, कभी वे उसकी साडी को, तो कभी उसके बालो में लगे फूलो को ठीक करती।

मुझे उस नव-विवाहिता वधू का खयाल आया, जिसे मैंने कुछ सप्ताह पूर्व शादी के स्वागत-समारोह में देखा था। सुमन और मैं दोनो गयी थी। वह वधू अपना सर झुकाये हुए और अपनी आँखे नीची किये हुए बहुत ज्यादा शर्मा रही थी। मुझे बाद को ज्ञात हुआ कि शायद उसकी लज्जा वास्तविक रही हो या न रही हो, उससे आशा तो इसी की की जाती थी। नयी-नयी शादी करके वह नये घर मे गयी थी। अब वह अल्हड लडकियो जैसा व्यवहार नही कर सकती थी। एक नयी लजीली, कर्तव्यपरायण पत्नी जैसा व्यवहार करना ही उसके लिए उचित था।

महिलाएँ एक-एक करके उसके पास आकर उसे कोई उपहार या आशीर्वाद देती। वह अपनी दृष्टि को ज़रा-सा ऊपर उठाती और मुस्करा कर अभिवादन करती और शुभकामनाएँ स्वीकार करती, और फिर से अपनी आँखें नीची कर लेती।

आज की भावी दुल्हन भी जल्दी ही ऐसी ही लज्जा धारण करने वाली थी, क्योकि बाहर गली मे बाजे-गाजे और चहल-पहल से हमे सूचना मिल गयी थी कि अब बारात सजाकर दूल्हा अपने मित्रो और सगे-सम्बधियो के साथ आ रहा है। छज्जे से बारात देखने के लिए सुमन और मै भाग कर दूसरी मजिल पर जा पहुँची।

हिन्दुओ मे यह प्रथा है कि शादी करने के लिए दूल्हा चलकर या घोडे पर चढकर अपने घर से दुल्हन के घर जाता है, किन्तु आधुनिक विचारवाला यह दूल्हा चटकीली पीले रग की, फूलो से लदी हुई मोटर मे बैठकर आया।

मोटर और वारात का छोटा-सा जुलूस सडक पर झाँकने से दिखाई देता था ।

आगे-आगे शादी के वाजे थे, दो नगाडेवाले और दो शहनाईवाले । वे सगीत तो कम निकाल रहे थे, शोर ज्यादा मचा रहे थे । उन्हे आनन्द खूब आ रहा था । उनके पीछे नयी मोटर थी जिसमे दूल्हा और उसके निकट के सम्वन्धी वैठे थे । हमने देखा कि दूल्हा पश्चिमी ढग का सूट पहने हुए था । अद्भुत चमचमाता हुआ सेहरा उसने सर पर डाल रखा था । आँखो के सिवाय सारा चेहरा उससे ढँक गया था । वह उसके कधो तक लटक रहा था । मोटर के पीछे लोगो की भीड थी जिसमें दूल्हे के मित्रो और सम्वन्धियो के अलावा और वहुत से कौतुक-प्रिय दर्शक भी शामिल थे ।

जव दूल्हा द्वार पर पहुँचा, तव दुल्हन के कुछ सम्वन्धियो ने उसका स्वागत किया । मोटर से नीचे उतरकर उसने अपने चेहरे पर से उस चमकते हुए सेहरे को ऊपर उठाया और दोनो परिवारो के प्रतिनिधियो ने शुभेच्छा के प्रतीक स्वरूप एक दूसरे पर गुलावजल छिडका । इस वीच हमने तथा औरो ने छज्जे पर से वारात पर फूल वरसाये ।

दूल्हा और उसके साथ के लोग रात्रि के भोज तथा विवाह-सस्कार शुरू होने तक ठहरने के लिए भीतर आये । साढे दस वजे तक शादी शुरू नही हुई थी, इसलिए सुमन को तथा मुझे शादी देखे विना ही लौटना पडा । वाद में हमें मालूम हुआ कि आधी रात वीतने पर शादी शुरू हुई और कई घटो में जाकर पूरी हुई । भारत के अपने प्रवास-काल में मैं कई हिन्दुओ और सिखो की शादियो में सम्मिलित हुई । सभी में वधू के घर व वाहर वडी देर तक धार्मिक विधियाँ सम्पन्न होती हैं । गठवन्धन करके वर-वधू जव हवन-अग्नि के सात फेरे पूरे कर लेते हैं तव उनकी शादी हो जाती है ।

मेरी एक घनिष्ठ सहेली की शादी दिल्ली में हुई थी । वह शादी के समय की अपनी चमकीली लाल और सुनहरी साडी में वहुत ही सुन्दर दिख रही थी । उसने सोने के अनेक कगन पहन रखे थे और एक सोने की लटी उसके वालो में गुंधी हुई थी, जिसके सिरे पर एक जेवर लगा हुआ था जो उसके माथे पर लटक रहा था । उसकी आँखो मे काजल लगाया गया था और उसके माथे को छोटी-छोटी सफेद विन्दियो से सजाया गया था ।

शादी के सस्कार के बाद–जो शाम को जल्दी ही हो गये थे—वधू के घर पर शादी की दावत हुई।

मेरा और सुमन का कई बार मजे का साथ रहा था। फिर भी शुरू में वह मेरी इतनी ही मित्र थी, जो मेरे साथ अच्छा व्यवहार करती थी, जिसके साथ मेरा वक्त अच्छा गुज़रता था, जिसकी कि मुझे उस वक्त जरूरत थी। मुझे शीघ्र ही पता लग गया था कि यह देश सकोचशील है। उसमें सुमन का साहस किसी कदर मुझ पर हावी हो जाता था। लेकिन दो महीने मे ही उसकी और मेरी घनिष्ठता हो गयी। वह सच्ची मित्र थी और मैं उसके साथ वैसे ही बात कर सकती थी जैसे मैं अपने देश में अपने मित्रो से करती थी।

मुझे जनवरी के सुहावने दिनो में से एक दिन खूब याद है। आसमान का रग गहरा नीला था और सूरज चमक रहा था। सूरज गर्म इतना ही था कि उसकी तरफ पीठ करना अच्छा लगता था और भारी स्वेटर न पहन रखा हो तो धूप सुहावनी लगती थी। सुमन और मैं तथा कुछ लडकियाँ और लडके स्कूल के बाद हॉकी खेलने के लिए ठहर गये थे।

खेल खत्म हो चुका था। मैं और सुमन धूप में बैठे आराम कर रहे थे। तभी एक बडी-सी लारी उधर से गुज़री, जो खूब सजी हुई थी और उसके दोनो तरफ बडे-बडे पोस्टर लगे हुए थे। प्रत्येक पोस्टर पर बैल का चिह्न था—साथ ही अँग्रेज़ी, हिन्दी और उर्दू में लिखा था "पटेल को वोट दो', "काग्रेस को वोट दो।" लारी लोगो से भरी हुई थी। वे गा रहे थे और चिल्ला रहे थे—"काग्रेस को वोट दो।" दिल्ली राज्य के पहले चुनाव में बस एक सप्ताह रह गया था और दिल्ली की सभी बडी पार्टियो—काग्रेस, सोशलिस्ट, जनसघ और कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रचार-कार्य पूरे जोर पर था।

मैंने सुमन से पूछा कि पोस्टर के बैल का क्या तात्पर्य है? उसने बताया कि बैल काग्रेस दल का चिह्न है। अपढ लोग इस चिह्न से काग्रेस दल का सम्बन्ध जोड सकते हैं, और वैसे ही बरगद के पेड से सोशलिस्टो का, दीपक से जनसघ का, गेहूँ की वाली तथा हँसिये से कम्यूनिस्टो का सम्बन्ध जोड सकते हैं और वे जिम पार्टी को वोट देना चाहें उसकी मतदान पेटी को उस पर बने हुए चिह्न से पहचान सकते हैं।

सुमन ने मुझमे पूछा कि क्या अमरीका में भी राजनीतिक दलो को व्यक्त

करने वाले चिह्न होते हैं ? मैंने उसे अपने यहाँ के रिपब्लिकन दल के हाथी और डेमोक्रेट दल के गधे और दो-दलीय व्यवस्था के बारे मे तथा चुनावो और राजनीतिक प्रचार-कार्य के बारे मे बाते बतायी। हम इस बात पर सहमत हुए कि जहाँ तक प्रचार और चुनावो का सम्बन्ध है, दोनो देशो में विशेष अन्तर नही है।

"किन्तु" सुमन ने कहा—"भारत में तुम्हारे यहाँ की दो-दलीय व्यवस्था मे मिलती-जुलती कोई चीज नही है।" उसने बताया कि भारत में काग्रेस पार्टी मुख्य है और कोई दूसरी पार्टी शक्ति में उसके बराबर या लगभग बराबर नही है। सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट पार्टी में थोडी-सी शक्ति है, और जनसघ में बहुत ही कम।

इस अन्तिम दल के भावुक समर्थक विश्वास करते हैं कि भारत विशुद्ध हिन्दू देश होना चाहिए और मुसलमानो को भारत छोडने के लिए बाध्य किया जाय, वे पाकिस्तान अथवा अन्य किसी मुस्लिम देश मे जाकर बसें। सुमन ने बताया कि इन चार दलो के अतिरिक्त, कुछ और छोटे-छोटे दल हैं और बहुत-से स्वतत्र उम्मीदवार भी हैं।

सुमन राजनीति का अध्ययन कर रही थी, जिस प्रकार मैंने अमरीका में किया था। भारत के प्रथम राष्ट्रीय चुनाव में सुमन के पिता दिल्ली राज्य की विधान सभा के लिए उसी चुनाव क्षेत्र में स्वतन्त्र उम्मीदवार के रूप मे खडे हुए थे जिसमें वे रहते थे। सुमन ने बताया कि "उनका चिह्न सीढी है और उनके प्रचार का नारा है 'हमें चाहिए उन्नति, काग्रेस की हो अवनति!' मुझे इस नारे से कुछ आश्चर्य हुआ और मैंने सुमन से कहा कि मैं तो यही सोचती थी कि काग्रेस पार्टी भारत की सबसे प्रगतिशील पार्टियो मे से है।

"स्वतन्त्रता के बाद हम सबका यही खयाल था कि वह बनेगी" सुमन बोली—"और वास्तव में उसने हमारे देश के लिए बहुत कुछ किया है। किन्तु काग्रेस ने बहुत धीमी गति से काम किया।" बाद को काग्रेस की इस प्रकार की आलोचना मेरे सामने अवसर दुहराई गयी। अधिकाश लोग जिनसे मेरी बात-चीत हुई उन्नति के लिए अधीर थे। भारत को आगे बढने की व्यग्रता है।

यह दोपहर का पिछला पहर था जब हमारी बात खत्म हुई। मैंने अनुभव किया कि मै सुमन को और भी ज्यादा समझने और चाहने लगी हूँ। उसके बारे

में मेरा यह खयाल कि वह सिर्फ सिनेमा की शौकीन और पश्चिमी सभ्यता को पसन्द करने वाली लडकी है, सही नही था ।

पहली फरवरी के लगभग, एक दिन जब मुझे भारत आये हुए तीन महीने बीत चुके थे, स्कूल की लडकियो ने निर्णय किया कि अब वह समय आ गया है जब कि मेरे पास भी कुछ भारतीय ढग के कपडे हो । भारत मे कपडे पुरुष सीते हैं, जिन्हे दर्जी कहते हैं । सुमन ने सलाह दी कि हम कपडा-बाज़ार जाये। और फिर वह उस दर्जी की दुकान पर चलकर, जिससे वह प्राय अपने कपडे सिलवाया करती थी, मेरे लिए सलवार और कमीज बनवाना चाहती थी। वस्तुत मै अपने अमरीकी कपडो मे सबसे अलग दीखती थी और मेरा पहनावा साइकिल की सवारी के लिए उपयुक्त नही था । सुमन और मैंने तीसरे पहर ४ बजे उसके घर के सामने मिलने की योजना बनायी ।

सुमन बाबर रोड पर एक छोटी-सी इक-मजिली बनी इमारत में रहती थी । जिस समय मैं साइकिल पर वहाँ पहुँची, वह बाहर खडी मेरा इन्तज़ार कर रही थी । चूंकि बाज़ार निकट ही था इसलिए हमने दुकान तक पैदल जाना तय किया । हम बाबर रोड होकर चौडी-चौडी वृक्षो से छाई हुई बाराखम्बा रोड से कनाट सर्किल, और सर्किल का चक्कर काटकर क्वीन्स वे पहुँची, जो नयी दिल्ली की एक प्रमुख सडक है । क्वीन्स वे के किनारे-किनारे पश्चिम पाकिस्तान से आये हुए हिन्दू शरणार्थियो की अनेक छोटी-छोटी दुकाने हैं । उनमे कई दुकाने कपडे की हैं । हमें पता था कि यहाँ हमें अपनी पसन्द की चीज़ मिल जायेगी । हमने झटपट सलवार के लिए तीन गज़ सफेद कपडा, कमीज के लिए नीले रग की ढाई गज छीट और हल्के नीले रग का जाली जैसा पौने दो गज कपडा चुन्नी के लिए खरीद लिया । दर्ज़ी की दुकान पास की ही सडक पर थी । हमने उसके पास जाकर कपडा दे दिया और मुझे जैसा नमूना चाहिए था वह उसे बता दिया । उसने मेरी नाप ली और मुझसे एक हफ्ते बाद आने को कहा, तब तक कपडे तैयार हो जाने वाले थे । तब से मैंने नियमित रूप से भारतीय कपडे ही पहने ।

दर्ज़ी की दुकान से मै और सुमन बाज़ार की एक छोटी-सी दुकान पर गये जो सुमन के घर के नजदीक ही थी । उसमें खाने की चीज़े बिकती थी जो दिखने मे जितनी लुभावनी थी, खाने में उतनी ही स्वादिष्ट भी । हमने कुछ

चटपटी चीज़े खरीदी, जिनका वर्णन नही किया जा सकता। कुछ मिठाइयाँ भी ली। फिर तो इन चीज़ो की ऐसी चाट पडी कि हमसे कभी छूटी नही। जब भी मैं सुमन के घर जाती तब हम हमेशा उसी छोटी-सी दुकान पर जाकर उन स्वादिष्ट चीज़ो को खूब पेट भर के खाते।

लगभग पहली मार्च तक मुझे सुमन के घर जाने और उसके परिवार से मिलने का कोई अवसर नही मिला। जब उस दोपहरी को मैंने उसके घर में प्रवेश किया, मुझे एक मिनट के लिए लगा जैसे मैं अपने एसेक्स के हर समय व्यस्त रहने वाले घर पहुँच गयी हूँ। शिशुओ का रुदन, बच्चो की किलकारियाँ, बडो की बाते और कई छोटे-छोटे नगे पैरो की चाप मुझे सुनाई पड रही थी।

परिवार में एक चचेरे भाई का जन्मदिन मनाया जा रहा था और घर दादा-दादियो, पिता-माताओ, चाचा-चाचियो तथा शोर मचाते और दूध-पीते शिशुओ से भरा पडा था। एक प्रकार की आश्चर्यपूर्ण अस्तव्यस्तता छाई हुई थी। सभी खुशी मना रहे थे, हँस रहे थे, बाते कर रहे थे और खूब आनन्द ले रहे थे। सुमन ने मेरा परिचय अपनी माँ और अपनी चाचियो से कराया। मैं भी उस अस्तव्यस्तता में शामिल हो गयी और सब ने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया जैसे मैं उन घर की ही सदस्या हूँ।

जब मैं रवाना हुई, सुमन ने मुझे दूसरे दिन दोपहर के भोजन के लिए आमन्त्रित किया। वैसे मैं भारतीय भोजन की कुछ चीजो का स्वाद चख चुकी थी और स्कूल में, मैं अक्सर सुमन और अपनी अन्य सहपाठिनियो के भोजन को समाप्त कराने में हाथ बँटाती रहती थी, किन्तु अब तक मैंने वास्तव मे पूरा भारतीय भोजन कभी नही किया था।

जब मैंने दूसरे दिन सुमन के घर का दरवाजा खटखटाया, उसके छोटे भाई ने मेरा स्वागत किया और उसने सुमन को आवाज़ दी। वह भागती हुई आयी और मुस्करा कर उसने शान से "हीं-या" कह कर मेरा अभिवादन किया। यह शब्द उसने उन्ही दिनो किसी अमरीकी मित्र से सीखा था। 'हो-या' कहकर ही मैंने भी उत्तर दिया और भोजन तैयार होने तक हम बैठ कर बाते करने लगीं।

मैंने उससे पूछा कि उसके परिवार के कौन-कौन सदस्य उस घर में रहते हैं और उसने मुझे सयुक्त परिवार-पद्धति समझायी। सुमन के दादा-दादी सयुक्त परिवार के और सुमन के परिवार के मुखिया थे। सभी विवाहित और अविवाहित लडके, अविवाहित लडकियाँ और विवाहित पुत्रो की पत्नियाँ व बच्चे सब उनके साथ रहते थे।

"भारत का पारिवारिक जीवन यही है।" सुमन ने मुझे बताया—'किन्तु, बहुत-से शिक्षित युवक अपने माता-पिता के बन्धन से मुक्ति अनुभव करने की इच्छा से अपना घर अलग बसाने लगे हैं।" सुमन का खयाल था कि बच्चे अपने माता-पिता के बहुत ऋणी होते हैं और उनका कर्तव्य है कि वे उनकी वृद्धावस्था में उनकी सेवा करें, जब तक वे जीवित रहे तब तक उनका आदर करे और उनकी आज्ञाओ का पालन करे।

सुमन के दादा दादी, माता-पिता, चाचा-चाची और उनके बच्चे, एक अविवाहित चाचा, उसकी अविवाहित बुआ और उसके खुद के दो भाई और बहनें सब उस घर में रहते हैं।

जब हम खाने की बडी-सी मेज़ पर खाना खाने बैठे तब मेरा लगभग उन सब से मिलना हुआ। उन्होने ज़रा सकुचाते हुए अग्रेज़ी में मेरा अभिवादन किया। अग्रेजी थोडी-थोडी सभी को आती थी। बाद में वे आपस में हिन्दुस्तानी में बातें करते रहे।

यद्यपि सुमन के परिवार के सदस्य हिन्दू हैं—फिर भी और बहुत-से हिन्दुओ की तरह ही वे भी शाकाहारी नही हैं। हाँ, लगभग सभी हिन्दुओ के समान, वे गोमास से सख्त परहेज़ करते हैं। भोजन, जैसी मैंने आशा की थी, वैसा ही बढिया था। खूब मसाला पडा हुआ मेमने का गोश्त, आलू-मटर का साग और मसूर की दाल, सभी चीजें बडी स्वादिष्ट थी। दाल बहुत सस्ती और पोषक तत्वो से परिपूर्ण होती है। भारत के अविकाश भागो के लोग इसे लगभग दोनो वक्त खाते हैं।

दाल-साग के साथ चावल और चपातियाँ परोसी गयी। लगभग प्रत्येक उत्तर भारतीय घर मे चपाती मुख्य भोजन है। बाद को मैंने उसका बनाना भी सीख लिया। गेहूँ के आटे में काफी पानी मिला कर उसे कडा-कडा सान लिया जाता है और उसकी छोटी-छोटी लोइयाँ बना ली जाती हैं, जिन्हे

बेल कर आग पर रखे लोहे के तवे पर मिनट भर में सेंक लेते हैं। आटे में तेल मिला कर बेली हुई लोइयो को सेंकने के बजाय तलने से दूसरी तरह की चीज़ बन जाती है। उत्तर भारत में चावल उतना नही खाया जाता है जितना गेहूँ। सुमन के परिवार में भी चावल रोज़ नही खाया जाता।

बर्फ जैसा सफेद दही और कई प्रकार की चटनियाँ भी खाने के साथ थी; और भोजन के अन्त में केले, सेव और खूब रस से भरे हुए आम दिये गये।

सुमन और मैंने अधिकाश तीसरा पहर बातो में बिताया। फिर हम बाज़ार गये, खाने की वही चटपटी चीज़ें लेने, जो हमें बहुत भा गयी थी। हमने दो आने की दो मुट्ठीभर खूब मीठी और रसवाली गडेरियाँ भी खरीदी।

फिर तो मैं कई बार भोजन करने सुमन के घर जाने लगी। भोजन के बाद बातचीत में मैंने उस अद्भुत लडकी और उसके सुन्दर देश के बारे में बहुत-सी बाते सीखी।

सुमन भावुक, स्नेहमयी, दयालु और जिज्ञासु लडकी थी। वह अमरीका से आकर्षित थी, उस अमरीका से जिसे उसने फिल्मो, फिल्मी पत्रिकाओ और कार्टूनो की पुस्तको में देखा था। वह उन्ही अमरीकी लडकियो जैसी बनने की कोशिश करती थी लेकिन उसी हद तक, जहाँ तक की ऊँचे नैतिक स्तर वाले देश-भारत में उसे "अश्लील" न समझा जा सके।

वह लिपस्टिक और लाली लगाती थी। पलको को काली करने वाली पेन्सिल का उपयोग करती थी, कभी-कभी नाखून भी रगती थी और अमरीकी जेवर पहनती थी। जैसे सैन्डल में या और बहुत-सी औरते पहनती थी, उनकी अपेक्षा ऊँची एडी वाले जूते उसे ज्यादा पसन्द थे। घर में वह डगारी पहनती थी (जो मैंने दी थी) और बबिल गम (गोंद से तैयार किया गया एक पदार्थ) चूसती रहती थी। वह अमरीका के बहुत-से फिल्मी सितारो के नाम जानती थी, वाल्ज नृत्य, फाक्स ट्राट और रम्बा नृत्य करती थी, 'ही-या" और बोलचाल के ऐसे ही अन्य दर्जनो अमरीकी शब्दो का प्रयोग करती थी।

इसलिए सुमन कभी-कभी बहुत नाटकी लगभग निर्लज्ज, खर्चीली लडकी समझी जाती थी। जो कुछ वह करती और पहनती थी उस से कुछ लोग यहाँ तक सोचते थे कि उसे अमरीका अपने देश से ज्यादा पसन्द है।

किन्तु उस से बाते करके मैंने जाना कि यह सुमन का वास्तविक चरित्र

नही, वह तो उसका बाह्य रूप था। मैं जानती हूँ कि सुमन उतनी ही सच्ची भारतीय है जितना मेरा कोई अन्य मित्र।

वह सुमन ही थी—जो मुझे भारतीय शादी मे ले गयी थी, जो मुझे अक्सर अपने घर खाने के लिए और परिवार के कामो, त्योहारो और समारोहो मे भाग लेने को बुलाती थी।

वह सुमन ही थी, जो मुझे उन भीड-भाडवाले बाजारो और छोटे उपहार गृहो में ले जाती थी, जहाँ मैंने भारतीय नगर के चहल-पहल-भरे जीवन को उसका एक अग बन कर देखा। और वह सुमन ही थी, जो मुझे रामलीला ले गयी थी, जहाँ मैंने भारत के प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण का अभिनय देखा।

मै सिर्फ यही आशा कर सकती हू कि मैंने सुमन को अमरीका का उसी प्रकार परिचय देने मे सहायता प्रदान की, जिस प्रकार उसने अपने देश को समझने और देखने मे मुझे मदद दी।

मैंने अमरीका के बारे में—अमरीका के छोटे-छोटे नगरो के बारे मे, जो मैं जानती थी, उसे बताने की कोशिश की। मैंने उसके सामने अपने नगर का वर्णन किया कि लोग वहाँ कैसे रहते और काम करते हैं। मैंने वहाँ के स्कूलों और शिक्षा-प्रणाली की चर्चा की और उसे समझाया कि हमारे नगर और राज्य का शासन कैसे चलता है। मैंने उसे बताया कि वहाँ की बहुत-सी लडकियाँ न तो नेल-पालिश लगाती हैं और न "बबिल गम" चूसती हैं और न सभी फिल्मी सितारो के नाम और उनके जीवन की गाथाओ से परिचित हैं।

फिर भी जब मेरे लिए भारत से विदा होने का समय आया, तब ऊपर से देखने पर मेरी तुलना मे सुमन ज्यादा अमरीकन लगती थी। और मैं, जिसने उसका पहनावा, उसकी भाषा और उसकी बहुत-सी रीतियाँ अपना ली थी—बिलकुल भारतीय लगती थी। किन्तु इस सब के नीचे हृदय और मस्तिष्क में, सुमन भारतीय ही थी और मैं अमरीकी।

मेरे भारत से रवाना होने से पहले, सुमन ने मुझे बताया कि "वह एक लडके से प्रेम करती है तथा उससे शादी करना चाहती है।" किन्तु भारत में प्रेम-विवाह इतने प्रचलित नही है और मैंने अनुमान किया कि सुमन कभी अपने माता-पिता की इस राय का उल्लघन नही करेगी कि उसका पति उसी की जाति

का होना चाहिए। सुमन का मित्र उसकी जाति का नही था। इसलिए जब कुछ समय बाद उसने मुझे लिखा कि उसके परिवारवालो की इच्छा से उसकी सगाई उसी की जाति के एक व्यक्ति से हो गयी है, तो मुझे आश्चर्य नही हुआ।

मेरे दिल्ली पब्लिक स्कूल की मित्रो में सुमन मेरी सबसे घनिष्ठ मित्र थी। कुछ घनिष्ठता औरो से भी थी। इन दोस्तियो ने मेरे लिए यह सिद्ध कर दिया, जैसा इसी प्रकार की दोस्तियो ने दूसरो के लिए भी सिद्ध किया कि यह जरूरी नही है कि पूर्व और पश्चिम एक-दूसरे के लिए अजनबी बने रहे।

पॉच

दक्षिण-यात्रा

१९५१ के दिसम्बर तक सैली, सैम और मैंने भारत मे सिवाय दोनो दिल्लियो, इटावा की सरकारी विकास-योजना और दिल्ली के आस-पास के दर्शनीय स्थानो के अतिरिक्त कुछ नही देखा था। इसलिए जब चेट ने महीने के मध्य मे दक्षिण भारत जाने की योजना बनायी और हमे स्कूल से छुट्टी लेकर उनके साथ जाने का मौका मिला तब हम बहुत प्रसन्न हुए।

दिल्ली से हवाई जहाज की छः घंटे की यात्रा के पश्चात तीसरे पहर हम दक्षिण भारत के सबसे बड़े नगर मद्रास पहुँचे। मद्रास भारत के पूर्वी तट पर, बंगाल की खाड़ी के किनारे बसा हुआ है। ज्यो-ज्यो हम नगर के निकट आते गये, त्यो-त्यो नीचे की जमीन की हरियाली धीरे-धीरे बढ़ती गयी और तभी काफी दूरी पर मटमैला भूरा मद्रास दिखाई दिया। नगर के भूरेपन से लगी हुई थी बंगाल की खाड़ी की विस्तृत नीलिमा, जो हमारी दृष्टि की सीमा से परे कहीं पर नीले आकाश से एकाकार हो रही थी। बन्दरगाह में दर्जनो मिट्टी का तेल ले जाने वाले और माल ढोने वाले जहाज, तटवर्ती यात्रा-स्टीमर और छोटी-छोटी नावें धूप में [illegible] हुए थीं या इधर-उधर दौड़-भाग कर रही थीं। ज्यो-ज्यो हम [illegible] धरती के निकट आने लगे, त्यो-त्यो सुन्दर, छोटे-छोटे ताड़ के पेड़ और मकान [illegible] स्पष्ट होने लगे और हमने जाना कि हम दक्षिण में आ गये।

नही, वह तो उसका वाह्य रूप था। मैं जानती हूँ कि सुमन उतनी ही सच्ची भारतीय है जितना मेरा कोई अन्य मित्र।

वह सुमन ही थी—जो मुझे भारतीय शादी मे ले गयी थी, जो मुझे अक्सर अपने घर खाने के लिए और परिवार के कामो, त्योहारो और समारोहों में भाग लेने को बुलाती थी।

वह सुमन ही थी, जो मुझे उन भीड-भाडवाले बाजारो और छोटे उपहार गृहो में ले जाती थी, जहाँ मैंने भारतीय नगर के चहल-पहल-भरे जीवन को उसका एक अग बन कर देखा। और वह सुमन ही थी, जो मुझे रामलीला ले गयी थी, जहाँ मैंने भारत के प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण का अभिनय देखा।

मै सिर्फ यही आशा कर सकती हूँ कि मैंने सुमन को अमरीका का उसी प्रकार परिचय देने मे सहायता प्रदान की, जिस प्रकार उसने अपने देश को समझने और देखने मे मुझे मदद दी।

मैंने अमरीका के बारे में—अमरीका के छोटे-छोटे नगरो के बारे मे, जो मैं जानती थी, उसे बताने की कोशिश की। मैने उसके सामने अपने नगर का वर्णन किया कि लोग वहाँ कैसे रहते और काम करते हैं। मैंने वहाँ के स्कूलो और शिक्षा-प्रणाली की चर्चा की और उसे समझाया कि हमारे नगर और राज्य का शासन कैसे चलता है। मैंने उसे बताया कि वहाँ की बहुत-सी लडकियाँ न तो नेल-पालिश लगाती हैं और न "बबिल गम" चूसती हैं और न सभी फिल्मी सितारो के नाम और उनके जीवन की गाथाओ से परिचित हैं।

फिर भी जब मेरे लिए भारत से विदा होने का समय आया, तब ऊपर से देखने पर मेरी तुलना मे सुमन ज्यादा अमरीकन लगती थी। और मैं, जिसने उसका पहनावा, उसकी भाषा और उसकी बहुत-सी रीतियाँ अपना ली थी—बिलकुल भारतीय लगती थी। किन्तु इस सब के नीचे हृदय और मस्तिष्क मे, सुमन भारतीय ही थी और मैं अमरीकी।

मेरे भारत से रवाना होने से पहले, सुमन ने मुझे बताया कि "वह एक लडके से प्रेम करती है तथा उससे शादी करना चाहती है।" किन्तु भारत मे प्रेम-विवाह इतने प्रचलित नही है और मैंने अनुमान किया कि सुमन कभी अपने माता-पिता की इस राय का उल्लघन नही करेगी कि उसका पति उसी की जाति

का होना चाहिए। सुमन का मित्र उसकी जाति का नही था। इसलिए जब कुछ समय बाद उसने मुझे लिखा कि उसके परिवारवालो की इच्छा से उसकी सगाई उसी की जाति के एक व्यक्ति से हो गयी है, तो मुझे आश्चर्य नही हुआ।

मेरे दिल्ली पब्लिक स्कूल की मित्रो में सुमन मेरी सबसे घनिष्ठ मित्र थी। कुछ घनिष्ठता औरो से भी थी। इन दोस्तियो ने मेरे लिए यह सिद्ध कर दिया, जैसा इसी प्रकार की दोस्तियो ने दूसरो के लिए भी सिद्ध किया कि यह जरूरी नहीं है कि पूर्व और पश्चिम एक-दूसरे के लिए अजनबी बने रहे।

पाँच

दक्षिण-यात्रा

१९५१ के दिसम्बर तक मैली, सैम और मैंने भारत मे सिवाय दोनो दिल्लियो, इटावा की सरकारी विकास-योजना और दिल्ली के आस-पास करीब स्थानो के अतिरिक्त कुछ नही देखा था। इसलिए जब चेट ने महीने के [illegible] मे दक्षिण भारत जाने की योजना बनायी और हमे स्कूल से छुट्टी लेकर [illegible] के साथ जाने का मौका मिला तब हम बहुत प्रसन्न हुए।

हम मद्रास में सिर्फ एक दिन ठहरे। उतने समय मे हमने अधिकांश दक्षिण भारतीयो की मधुर भाषा तमिल के कुछ शब्द सीख लिये। दक्षिण भारत की तीन अन्य प्रमुख भाषाओ में से दो—तेलुगु और कन्नड की तरह—तमिल संस्कृत या उस से निकली भाषाओ से बिल्कुल असम्बद्ध है।

दक्षिण भारतीयो के लिए हिन्दुस्तानी वैसी ही अपरिचित है जैसी कि अंग्रेज़ी, और राष्ट्रभाषा के रूप में उसका स्वीकार किया जाना दक्षिण मे ज्यादा पसन्द नही किया गया। बहुतेरे ऐसा अनुभव करते हैं कि इस समय अंग्रेज़ी को भारत की मुख्य भाषा के स्थान से हटाना भूल है, जब कि यह भाषा विश्व में इतने व्यापक रूप से बोली जाती है।

सवेरे ६॥ बजे से हमने अपना सारा दिन मद्रास की बहुत-सी संस्थाओ और संगठनो के देखने में बिताया। सबके अन्त में हमने विश्राम एवं आरोग्य-केन्द्र देखा, जो इस देश के आवास-गृहो से मिलता-जुलता था। यह केन्द्र पास-पड़ोस के लगभग ३०० परिवारो के लिए आरोग्य तथा मनोरंजन की पूर्ण सुविधाएँ प्रदान करता था। बच्चे वहाँ दिन में आते, स्कूल जाते, आयोजित मनोरंजनो में भाग लेते और डाक्टरी सहायता प्राप्त करते थे।

यह संस्था तथा बहुत-सी अन्य संस्थाएँ, जिन्हे हमने देखा, इसी विशेष उद्देश्य को लेकर स्थापित की गयी थी कि भारत के लोगो को ऊँचे स्तर के जीवन-यापन में सहायता प्रदान की जाय। इन संगठनो और संस्थाओ में काम करने वाले ज्यादातर लोग, बहुत ज़्यादा आशावान दिखाई देते थे और अपने प्रयत्नो के प्रति गौरव का अनुभव करते थे। उन्हे अपने काम पर गर्व था। शायद वे विश्वास करते थे (जैसा मैं विश्वास करती हूँ) कि एक व्यक्ति जहाँ तक बन पडे अपनी शक्ति भर काम कर ले, भले ही वह काम कम क्यो न हो, तो वह दूसरो की छोटी-छोटी सफलताओ मे मिल कर, बडी और महत्वपूर्ण सफलता बन जाता है। बाद को, हमने इसी प्रकार की आशापूर्ण मनोभावना भारत के बहुत-से भागो में पायी।

दूसरे दिन तडके ही, हम कार द्वारा मद्रास से बंगलूर के लिए रवाना हुए, जो २५० मील पश्चिम मे है। तीसरे पहर से पहले, मद्रास राज्य पार करके मैसूर राज्य में प्रवेश करने के कुछ ही देर बाद हम कोलार नगर में रुके। यहाँ अमरीका के एक ईसाई मिशनरी दल की ओर से हमें हार पहनाये गये और

हमारा स्वागत किया गया। यह दल कोलार-क्षेत्र में जन-स्वास्थ्य और साक्षरता के कार्य में जुटा हुआ था। मेरे लिए अमरीकी मिशनरियो के सम्पर्क में आने का यह पहला अवसर था। मैं उनके कार्य से बहुत प्रभावित हुई।

मैंने कितनी ही बार एक और तरह के मिशनरियो के बारे मे सुना था। उन मिशनरियो के बारे में जिनका एक-मात्र लक्ष्य उन भारतीयो को ईसाई बनाना था, जिनके साथ वे काम करते थे। इसलिए कोलार के मिशनरियो से मिल कर और यह जान कर मुझे बडा हर्ष हुआ कि सभी मिशनरी एक-मात्र धर्म-परिवर्तन मे सलग्न नही हैं, जैसा मैने समझ रखा था।

बाद को मेरा अन्य मिशनरियो से भी परिचय हुआ, जिन्होने अपनी शक्ति धर्म निरपेक्ष कार्यों में लगा रखी थी। मुझे सारे भारत के उन दलो के बारे मे भी जानने को मिला जो उतने ही नि स्वार्थ भाव से और "सच्चे ईसाइयो" की तरह काम कर रहे हैं, जिस प्रकार कोलार के लोग। भारत के मिशनरियो में मेथोडिस्टो की अधिकता है। बाकी ज्यादातर या तो एपिस्कोपेलियन हैं या बैपटिस्ट।

होटल को देख कर हुई थी। गरीबी से ग्रस्त जिन सडको पर होकर हम आये थे उनमे और उसमे जो अन्तर था उससे मैं चकित हुई और क्रोधित भी।

वहाँ सोने, चाँदी, संगमरमर और काच का सामान था, जगमग-जगमग करते कमरे और हाल थे, जो मसाले लगाये हुए पशुओ से भरे हुए थे। वह तो उन कल्पित महलो जैसा था जिन के बारे मे मैंने बचपन में परियो की कथाओं मे सुना था। ऐसे महल पृथ्वी पर होगे यह मैंने कभी सोचा भी नही था।

जब हम उस कल्पना-लोक जैसे स्थान से निकल कर महल के निकट की सडक पर पहुँचे, तब एक पुलिसवाले ने हमे रोका और कहा कि हमें चक्कर काट कर जाना होगा, क्योकि महाराजा साहब आने वाले हैं और सडक खाली होनी ही चाहिए। मेरा हृदय विद्रोह से भर गया और मै सोचने लगी कि यह विद्रोह मेरे अमरीकी होने के कारण सस्कारो का परिणाम था या मैसूर की सडक पर चलने वाला व्यक्ति भी ऐसा ही अनुभव करता है। मुझे यह भी विचार आया कि अपनी भूतपूर्व प्रजा का रास्ते से हटाया जाना स्वय महाराजा को कैसा लगता होगा? शायद प्रजा और महाराजा दोनो ने इसके सिवाय और कुछ जाना ही नही था।

देश स्वाधीन हो जाने के समय से ऐसे वश-परम्परागत महाराजाओ की राजनीतिक सत्ता नही के बराबर हो गयी है। कुछ को जनता ने शासन-तत्र के लिए चुना है और वे अपने जीवन को नये भारत के निर्माण में लगा रहे हैं। दूसरे अब भी उस धन से, जो भारत-सरकार ने उन्हे राजसी सत्ता से हटाने पर दिया था, विलास का जीवन बिता रहे हैं।

मैसूर से हम दक्षिण की तरफ ऊटकमण्ड की ओर बढे। यह नगर पश्चिमी घाट की पर्वतमाला के एक भाग मे नीलगिरी की पहाडियो मे ऊँचाई पर स्थित है। ज्यो-ज्यो हम ऊँचाई पर पहुँचते गये, त्यो-त्यो हरियाली घनी होती गयी। शीघ्र ही हमने अपने को चारो ओर मनोरम जगल से घिरा हुआ पाया, ऐसा जगल जो नाजुक, पतले-लम्बे बाँस, ऊँचे और शानदार सागौन और तैलयुक्त सुन्दर युकालिप्ट्स के वृक्षो से भरा था। अपने भारत-प्रवास मे मैंने जो देखा उसमें इस स्थान को सब से अधिक सुन्दर भाग के रूप में मै आज भी याद करती हूँ। मुझे शुष्क और समतल दिल्ली मे इस हरियाले, जगली, पर्वतीय प्रदेश का अभाव बेहद खटकता था।

हमें पता था कि दक्षिण भारत में हमे हाथी देखने को मिलेंगे। जब हम अमरीका मे थे, हमारा ख़याल था कि ये हाथी सारे भारत में आम तौर से पाये जाते हैं। उस दिन ऊटकमण्ड से कोचीन जाते हुए रास्ते मे हमने पहली बार हाथी देखा। वह जगली था।

मुख्य सडक से दो मील दूर एक छोटे-से गांव के निकट एक हाथी का बच्चा, एक गढे में, जो उसी उद्देश्य से खोदा और पेड-पत्तो से ढँका गया था, फँस गया था। जगल से लेकर गांव तक की धूल भरी छोटी-सी सडक बहुत ही ऊबड-खाबड थी। इसलिए उस पर हमारी मोटर का चलना दुश्वार था। हमने धीरे-धीरे चलने वाली एक बैलगाडी के सहृदय गाडीवान का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि वह हमे वहाँ पहुँचा देगा और वापस ले आयेगा।

गढे के चारो ओर उस छोटे हाथी (यदि हाथी के बच्चे को छोटा कहा जा सकता है) को देखने के लिए एक छोटी-सी भीड जमा थी और वह हाथी बडे करुणापूर्ण ढग से मुक्ति पाने के लिए जी-तोड प्रयत्न कर रहा था। जगली हाथी किसानो की फसले बर्बाद कर देते हैं। इसके विपरीत पालतू और सिखाये हुए हाथी बहुत काम के होते हैं, यह चीज हमें उसी दिन बाद मे मालूम हुई। अपने रास्ते मे हमने कही-कही देखा कि हाथी काम मे लगा हुआ था और पेडो की शाखाएं या लट्ठे खीच रहा था।

जैसे-जैसे हम तट के निकट आते गये, वैसे-वैसे जमीन अधिक रेतीली होती गयी और हमारी सडक बहुत-से छोटे जलप्रवाहो, नहरो तथा पानी के निकासो के ऊपर होकर गयी थी। एक स्थान पर हमने और हमारी मोटर ने एक छिछली किन्तु तेज बहने वाली नदी को लकडी के सपाट तख्ते पर पार किया, जो दो लम्बी-लम्बी नावो पर टिका हुआ था।

जिस समय हम नदी पर पहुँचे, उस समय झुटपुटा था और जब अन्त में हम उस पार पहुँचे तब अँधेरा हो गया था। दूसरे किनारे के पेडो पर चन्द्रोदय हो रहा था। उसका प्रकाश पानी की लहरो पर झिलमिल-झिलमिल कर रहा था। वहाँ की शान्ति मनोहारी थी। केवल बीच-बीच मे दूर से असख्य मेढको की आवाज़ और जहाँ, हम उस पार जाने के लिए अपनी बारी आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, वहाँ सडक के किनारे की छोटी-सी चाय की दुकान के लोगो की बात-चीत की ध्वनि सुनाई दे रही थी।

दूसरे दिन सवेरे हम कोचीन से कन्याकुमारी के लिए रवाना हुए, जो भारत के ठीक अन्तिम छोर पर है। उस दिन हम जिस प्रदेश से होकर गुज़रे वह बहुत ही सुन्दर और हरा-भरा था। भारत के जो-जो भाग मैंने अब तक देखे थे, यह प्रदेश उन सबों से भिन्न था। पहली दृष्टि में त्रावणकोर-कोचीन समृद्ध, सन्तुष्ट और शान्तिमय लगा। भूमि नैसर्गिक सुन्दरता से सजी हुई थी। आकाश की नीलिमा के समक्ष खड़े हुए वे लम्बे शानदार नारियल के वृक्ष, घनी हरियाली, अनन्त तट की सफेद बालू, नील-हरित शान्त विशाल सागर, जो [illegible] तक फैला हुआ था, और फूस की छतों वाले देहाती-घर तट के किनारे-किनारे जिनकी लगातार, लगभग एक सी ही पंक्ति चलती और [illegible] में समाप्त हो रही थी।

सभी जगह हमे किसी-न-किसी रूप में नारियल के वृक्षो के अश देखने को मिले। अधिकाश छोटे-छोटे घरो की छते नारियल के चौडे पत्तो से छाई हुई थी। चटाइयाँ और टोकरियाँ पत्तो के डठलो या नारियल की जटाओ की बुनी हुई थी।

बडी बडी गाडियाँ और समुद्र या नहर के किनारे की नावें ह छिलके से भरी हुई थी और टोकरियाँ जटाओ से भरी थी। कई जगह, सडक के किनारे, चटाइयो पर नारियल की गिरी तेज धूप मे सूख रही थी।

उस क्षेत्र के अधिकाश लोग नारियल-उत्पादन और उद्योग के विभिन्न अगो मे लगे हुए हैं, किन्तु उन्हे अमीर और शक्तिसम्पन्न भूस्वामी, जिन पर उनका कोई वश नही है, बहुत थोडी मजदूरी देते हैं। इसलिए इसमे कोई आश्चर्य नही कि वे असन्तुष्ट हैं और हिंसा की ओर बडी आसानी से बहका लिये जाते हैं।

भूमि-सुधार, जिसके प्रमाण हमे सब जगह देखने को मिले, राजनीतिक आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण अग था। १९५१ में भारत के प्रथम लोकतान्त्रिक चुनावो में प्रत्येक राज्य की मतदान की तारीख जुदा-जुदा थी। त्रावणकोर-कोचीन की बारी हमारे वहाँ से रवाना होने के बाद जल्दी ही आनेवाली थी। पोस्टर, सूचनाएँ, झण्डे, मोटरे, गाडियाँ, सम्मेलन, सभाएँ तथा जुलूस उम्मीदवारो और पार्टियो का प्रचार कर रहे थे। जिस तरह जगह-जगह हमें प० नेहरू और काग्रेस पार्टी का तिरगा दिखाई दिया, उसी तरह कम्युनिस्टो और वाम पक्षीय दलो के सयुक्त मोर्चे का झण्डा गहरे लाल रग का था। एक गाँव मे हम कुछ उत्तेजित लोगो के छोटे-से जुलूस के पास से होकर गुजरे। वे लोग लाल झण्डे लिये हुए थे और सब मिल कर अपनी क्षेत्रीय भाषा मे चिल्ला रहे थे—"कम्युनिस्ट पार्टी को वोट दो!"

बाद को दिल्ली वापस आने पर चुनावो के परिणामो से हमें पता चला कि राज्यो में कम्युनिस्ट बहुमत प्राप्त करने में असफल रहे। १९५४ मे नये चुनाव हुए और हमे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि कम्युनिस्टो की शक्ति धीरे-धीरे घटती हुई प्रतीत हो रही थी।

शाम के समय हम कन्याकुमारी पहुँचे। यहाँ भारत के चरणो मे, एक छोटी-सी लडकी से मेरी भेट हुई और मेरा खयाल है कि मैं उसे बहुत समय

[illegible] रहूँगी। उसका नाम मेरी था और वह कोई दस बरस की लगती थी। वह हमें समुद्र तट पर मिली, जहाँ वह अपनी बनायी हुई रेत की सुन्दर-सुन्दर मालाएँ बेचने के निश्चय से हमारे पास आयी थी। जब हमने उसकी इच्छा पूरी कर दी तब उसने तुरन्त अपने चेहरे की गम्भीरता और व्यापारिक मनोवृत्ति का नकाब उतार फेंका और बचे हुए सामान को अपनी जेबों में ठूँस कर समुद्र तट पर खेलने वाली बालिका जैसी बालिका हो गयी। हम तट पर टहलते हुए आगे बढ़ रहे थे और वह हमारे आगे-पीछे दौड़ लगाती हुई उन लहरों के साथ, जो पैरों को छूने की असफल चेष्टा कर रही थी, खिलवाड़ करती जा रही थी। उसकी [illegible]पूर्ण सहायता से मेरी, [illegible] और मैंने रेत का एक [illegible] महल बनाया।

जब हम वहाँ से चले, मेरी निर्जन तट पर वहीं खड़ी थी, जहाँ वह हमें मिली थी। वह वैसी ही [illegible] थी जैसी की वायु, वैसी ही चंचल थी जैसी कि समुद्र [illegible] और वैसी ही प्यारी थी जैसी कि रेत और उसके [illegible]।

[illegible]

थोर आगे बढ कर अलग-अलग व्यक्तित्वो में बंटा हुआ था ।

दूसरे दिन हमने त्रिवेन्द्रम से, जो पश्चिमीघाट से पचास मील दूर था, रवान होकर दक्षिण भारत से विदा ली। पहले ही मैंने देश को दो सामान्य भागो ं बाँट दिया था—एक उत्तर भारत और दूसरा दक्षिण भारत । दक्षिण में आ से पूर्व मैं उस भारत को प्यार करने लगी थी, जो दिल्ली और आम-तौर पर शुष्क तथा रगीन उत्तरार्द्ध मे प्रतिबिम्बित था । अब दक्षिण भारत के हरे-भरे जल-प्लावित और गम्भीर प्रदेश में दो सप्ताह बिता लेने के बाद मैं भारत को और भी अधिक प्यार करने लगी तथा मुझे अपने इस कथन में और अधिक औचित्य जँचने लगा कि मैं भारत को प्यार करती हूँ।

छः

गांधीजी का 'सेवाग्राम'

भारत के मध्यप्रदेश मे मानो उसके हृदय मे, एक छोटा किन्तु अत्यधिक महत्वपूर्ण गाँव है जिसका नाम है—सेवाग्राम । उस छोटे-से गाँव का यह 'सेवाग्राम' नाम और उसका महत्व नया ही है। वैसे तो गाँव पुराना है और १९३५ के वसन्त तक किसी भी भारतीय गाँव जैसा ही एक गाँव था । तभी सारे राष्ट्र में सम्मानित महात्मा गाधी वहाँ रहने के लिए गये ।

गाँव के किनारे गाधीजी ने एक आश्रम की ऐसी जगह स्थापना की, जहाँ वे तथा दूसरे लोग गाधीजी के सिद्धान्तो के अनुसार रह सकें। सेवाग्राम में इस प्रकार के आश्रम की सृष्टि उन्होने मुख्यतया यह सिद्ध करने के लिए की कि भारत के पिछडे-से-पिछडे गाँव मे भी एक शिष्ट-समाज का विकास किया जा सकता है। इस लक्ष्य की पूर्ति की दिशा मे गाधीजी और उनके दो शिष्यो—आर्यनायकम् और उनकी पत्नी आशादेवी ने जो मुख्य कदम उठाया वह था—"नयी तालीम" नाम की नयी शिक्षा-पद्धति का निर्माण, जिसे सेवागाम की पाठशालाओ में कार्य रूप में परिणत किया गया। गाधीजी का विश्वास था कि "जीवन में कोई छोटी-से-छोटी चीज़ भी ऐसी नही जिसका शिक्षा से सम्बन्ध

था।" इसीलिए वे अपनी इस नयी शिक्षा-पद्धति को "जीवन के लिए शिक्षा" कहते थे।

शिक्षा और जन-स्वास्थ्य के प्रति स्टेव को विशेष रुचि है, अतएव सेवाग्राम जाने की उनकी बड़ी इच्छा थी। इसलिए सन् १९५२ की जनवरी के [illegible] में एक सप्ताह को हम, मैरी, सैम और मैं दिल्ली रेलवे स्टेशन से दक्षिण [illegible] के सागर में बैठ गये। जल्दी ही हमारी गाड़ी धीमी चाल से स्टेशन के पार हुई। फिर उसने रफ्तार पकड़ी। शहर पीछे रह गया और रेल अँधेरे को चीरती हुई आगे बढ़ने लगी। हम दूसरे दिन रात को वर्धा पहुँचनेवाले थे, जो सेवाग्राम से पाँच मील की दूरी पर एक छोटा-सा स्टेशन है।

हमारे डिब्बे में सबसे कम गद्दीवाली दो सीटें नीचे थीं। दीवार से लगी हुई दो सीटें ऊपर भी थीं। इस प्रकार चार व्यक्तियों के सोने की व्यवस्था थी। सभी भारतीय रेलों के डिब्बों की तरह यह डिब्बा भी बहुत लम्बा था। दोनों तरफ एक-एक दरवाजा था और बाहर की तरफ खुलनेवाली दो-दो खिड़कियाँ थीं जो खुल सकती थीं। छत में एक बिजली की बत्ती और पंखा लगा था। आगे-पीछे के डिब्बों से इसका कोई सम्बन्ध न था। इसलिए [illegible] किसी स्टेशन पर [illegible] इसमें से [illegible] आना-जाना [illegible] रखा था।

[illegible]

और सरकारी अधिकारियों से अटूट सम्बन्ध न होता।

मुझे विश्वास है कि [illegible] पर जो [illegible] हमें [illegible] के [illegible] —[illegible] के साथ, जिन्हें वे अपने से ऊँचा समझते थे वैसा [illegible] [illegible] जैसा वे अपने मित्रों और [illegible] से [illegible] हैं। [illegible] [illegible] कि मेरे माता-पिता तथा [illegible] के [illegible] लाभ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मित्र [illegible] [illegible]। [illegible] से [illegible] से [illegible] होते।

[illegible]

झाँका और गिडगिडा कर बोला—"दो पैसा दो, मेम साहब, माँ नही मेम साहब !—भूखा हूँ !" किन्तु वह खूब अघाया हुआ और तगडा दीख था इसलिए हमने सोने का बहाना कर लिया, किन्तु दूसरे विकृत अगवा अपाहिज और मरियल भिखारियो से पीठ मोड लेना इतना आसान नही था

अगले रोज दिन मे गाडी जहाँ भी रुकती—कोई घण्टे-घण्टे भर बाद व रुकती थी—हम बार-बार पानी पीने, कुछ फल खरीदने या सिर्फ अपने पै सीधे करने के लिए डिब्बे से उतर जाते थे। हम एक सिरे से दूसरे सिरे त चक्कर लगाकर पहले, ड्योढे और तीसरे दर्जे के डिब्बो का निरीक्षण करते थे

पहले दर्जे का डिब्बा हमारे दूसरे दर्जे के डिब्बे से भिन्न नही लगता था सिवाय इसके कि उसमें कम लोगो के बैठने का प्रबन्ध था और शायद उसकी गद्दियाँ जरा ज्यादा नर्म थी। पहले दर्जे के टिकट का मूल्य हमारे दूसरे द के टिकट से लगभग दूना था और वास्तव मे बहुत कम लोग इतना ज्याद खर्च उठा सकते थे। मेरी समझ मे नही आता कि आखिर लोग पहले दर्जे मे यात्रा क्यो करते हैं, सिवाय इसके कि वे इसी मे अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं।

ड्योढे दर्जे के डिब्बे दूसरे दर्जे के डिब्बे से जरा बडे थे लेकिन उनमे बहुत ज्यादा लोग बैठे थे। उनमे बैठने की बेचो जैसी सीटे कम चौडी थी और उन पर चमडे के पतले गद्दे लगे हुए थे। तीसरे दर्जे के डिब्बो मे हमेशा ही बुरी तरह भीड-भाड रहती है और उनकी कम चौडी सीटो पर गद्दे नही होते हैं। दिल्ली से वर्धा तक के दूसरे दर्जे के प्रत्येक टिकट के लिए हमें लगभग साठ रुपये अथवा करीब बारह डालर देने पडे थे। तीसरे दर्जे के टिकट के शायद बीस रुपये या चार डालर से अधिक नही लगते।

बाद को, मैंने जब कभी अकेले यात्रा की—मैं हमेशा तीसरे दर्जे मे ही बैठती। वही मैं सभी प्रकार के भारतीयो से मिली। मुझे उनसे बाते करने, उनके साथ भोजन करने और उनके बच्चो के साथ खेलने का मौका मिला।

ये तीसरे दर्जे की यात्राएँ, और दूसरे दर्जे में सेवाग्राम की यात्रा भी उस यात्रा से कितनी भिन्न थी, जो एक महीने बाद हमने पहले दर्जे से भी बढिया दो डिब्बो में नेपाल जाने के लिए की थी—और मुझे कैसी अजीब अनुभूति हुई थी। इस नेपाल-यात्रा की धूम-धाम मुझे नही सुहाई और मैंने चाहा कि काश ! इस प्रकार की धूम-धाम और सम्पन्नता का परम्परानुसार कूटनीतिज्ञो

और सरकारी अधिकारियो मे अटूट सम्बन्ध न होता।

मुझे विश्वास है कि रास्ते के स्टेशनो पर जो लोग हमें कौतूहल से देखते थे—वे उन लोगो के साथ, जिन्हे वे अपने से ऊँचा समझते थे, वैसा आचरण नही करते जैसा वे अपने मित्रो और बराबरवालो मे करते हैं। इसीलिए मैं चाहती थी कि मेरे माता-पिता तथा दूतावास के दूसरे लोग जो हमारे साथ थे—किसी प्रकार अपनी हैसियत को छिपा कर उन लोगो के साथ बराबरी की हैसियत से मिलने-जुलने में समर्थ होते।

हम उन लोगो का सही अध्ययन कर सकते हैं। हम एक-दूसरे का अभिवादन कर सकते हैं और साथ-साथ मुस्करा सकते है। हमारा इस प्रकार का मिलन मैत्रीपूर्ण होते हुए भी मर्यादित होता है। मेरा विश्वास है कि इस आधार पर कोई किसी व्यक्ति, उसके परिवार या उसके गाँव के लोगो के साथ वास्तविक, अनौपचारिक घनिष्ठता स्थापित नही कर सकता।

मुझे यह आवश्यक लगता है कि वे लोग तुम्हे अपनायें—या तो तुम्हारी असलियत के आधार पर—जिसमें दुर्भाग्य से काफी समय लगता है, या उन लोगो के व्यवहार, बोल-चाल और वेशभूषा से तुम्हारे समन्वय के आधार पर। मेरी कामना है कि दुनिया के लोगो को शीघ्र ही ऐसा अवसर और ऐसी इच्छा प्राप्त हो ताकि वे दूसरो को उनकी असलियत के आधार पर अपनाने के उद्देश्य से, एक-दूसरे को जाने। हर एक व्यक्ति महसूस करे कि वह वास्तव में दूसरो से भिन्न नही है और जो भिन्नताएँ विद्यमान हैं, वे मैत्री के मार्ग में बाधक नही होनी चाहिएँ।

पहले दर्जे की भव्य नेपाल-यात्रा का एक और पहलू था, जिसने मेरे विचारो को झकझोरा, उसी तरह जिस तरह औरो के विचारो को झकझोरा था। गाधीजी ने एक बार कहा था कि "जब तक एक भी स्वस्थ औरत या मर्द बेकार या भूखा रहता है, तब तक हमें आराम करने या भर पेट भोजन करने में शर्म आनी चाहिए।" इसीलिए गाधीजी कम-से-कम भोजन करते थे और उतना ही आराम करते थे जितना कि अनिवार्य था। बाकी समय वे इस चिन्ता में लगाते थे कि भारत के प्रत्येक नर-नारी को काम और भोजन मिले।

मैं इस में विश्वास नही करती जैसा गाधी जी करते थे, कि चूंकि और

लोग "भूखे या बेकार" हैं, इसलिए हमें भोजन और आराम करने में लज्जा आनी चाहिए, किन्तु मैं यह अवश्य मानती हूँ कि जरूरत से ज्यादा भोजन, जरूरत से ज्यादा आराम और धन का बहुत अधिक दिखावा जैसी चीज़े भी होती हैं। एक ऐसी सीमा है, जहाँ व्यक्ति महसूस कर सकता है कि वह मज़े में है। प्रत्येक व्यक्ति रोजी, चिन्ता-रहित और भरे-पूरे घर, अच्छे भोजन और इच्छा अथवा ग्रहण-शक्ति के अनुसार अधिक-से-अधिक शिक्षा के रूप में उस सीमा को प्राप्त करने का अधिकारी है। इस सीमा के पार, बाहुल्य प्राप्त करना, मेरे खयाल से अनावश्यक और अनुचित है।

इसलिए मुझे खेद था कि हमारी नेपाल-यात्रा इतनी घूम-धाम की थी, किन्तु शिष्टाचार के अनुसार ऐसे महत्वपूर्ण अवसर पर इस प्रकार की घूम-धाम हमारे लिए आवश्यक थी। इसकी तुलना में हमारी सेवाग्राम की यात्रा शारीरिक रूप से न सही, मानसिक रूप से कितनी आरामदेह थी। गाडियो की तरह स्टेशनो पर भी भीड-भाड थी। कुली सिर पर ट्रक या बडे सन्दूक या पिटारियाँ उठाये प्लेटफार्म पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड लगाकर खाली जगह के लिए रेल की खिडकियो मे झाँकते थे। परिवार-के-परिवार उनके पीछे चले जाते थ। प्लेटफार्म पर खोमचेवाले अपने छोटे-छोटे ठेले ढकेलते हुए या अपनी डलियो को बडी सावधानी से उठाये हुए भीड में धक्कम-धक्का करते हुए चले जाते थे और बीच बीच में अपने सामान की जोरो से आवाजे लगाते जाते थे। एक व्यक्ति खिडकी-खिडकी जाकर यात्रियो के पीतल के लोटे या मिट्टी के वर्तनो को पीने योग्य पानी से भरता था, डिब्बो में तो पानी की व्यवस्था थी नही।

गाडी काफी देर तक ठहरती थी और यात्रियो के परिवार प्लेटफार्म के किनारे बैठकर भोजन या आराम करते थे, नल के चारो ओर जमा होकर पानी पीते और स्नान करते थे। लोग अपने पीतल के लोटे भर-भर कर अपने ऊपर उडेल कर नहाते थे, वे वडी होशियारी से साफ धोतियाँ वदल कर उस धोती को, जिसे अव तक पहने हुए थे, धोकर धूप में सूखने के लिए फैला देते थे।

धूल-धूसरित किन्तु आराम-दायक यात्रा के वाद हम वर्धा पहुँचे। एक लम्वा व्यक्ति, जो घर के कते हुए सूत की सफेद पोशाक पहने हुए था, तुरन्त हमारे पास आया। उसने हमारा अभिवादन किया और आर्यनायकम् के नाम

से अपना परिचय दिया। हम जानते थे कि आर्यनायकम् अपनी पत्नी आशा-देवी के साथ—दोनो बाद को मेरे माता-पिता के घनिष्ठ मित्र हो गये—सेवा-ग्राम की बुनियादी शिक्षा पाठशाला का सचालन करते थे और गाधीजी के निकटतम सहयोगियो में से थे।

जब हम एक पुरानी मोटर में बैठ कर कच्ची सडक से आश्रम जा रहे थे, तब (मुझे लगा कि अच्छा होता यदि मैं पैदल चलती) हमारे मेज़बान ने दुग्धशाला, अस्पताल और पुस्तकालय की ओर सकेत किया, जिन्हे हम दूसरे दिन सुबह देखने वाले थे। हम आश्रम ठीक ऐसे वक्त पहुँचे कि सध्या की प्रार्थना में अन्य लोगो के साथ शामिल हो सके।

तारो-भरे धुँधले आसमान के नीचे हम चुपचाप ज़मीन पर, सभा मे एक किनारे बैठ गये। प्रार्थनाएँ मराठी और हिन्दुस्तानी में गायी गयी, इसलिए हम उन्हे समझ नही सके, किन्तु एक की वाक्य-रचना से मुझे लगा कि वह 'लार्ड्स प्रेअर' (बाइबिल मे उल्लिखित एक प्रार्थना) होगी। बाद को हमें पता चला कि उस रात को हमने जिन प्रार्थनाओ को सुना था, वे प्रार्थनाएँ सभी धर्मों की थी और 'लार्ड्स प्रेअर' भी उन में थी। सवर्ण और हरिजन, हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सभी एकत्र होकर कुरान, बाइबिल और भगवद्गीता के पाठ से ईश्वर की स्तुति की गयी थी। वहाँ शान्ति थी—नीरव और आनन्ददायक।

प्रार्थना सभा के बाद हमारे मेज़बान श्री आर्यनायकम् और उनकी पुत्री मीट्ठू, जो मेरी ही उम्र की थी, हमें वह छोटी-सी मिट्टी की पावन कुटिया दिखाने ले गये जिस में गाधीजी, जब कभी भी उन्हे जेल से फुरसत मिलती थी, सेवाग्राम आकर रहा करते थे। उनकी बहुत थोडी-सी और सादी चीज़े वैसी ही रखी थीं, जैसी वे उन्हे छोड गये थे।

भारतीयो के लिए वह कुटिया पावनतम स्थान हैं और उस छोटे-से कमरे में खडे होकर कोई भी व्यक्ति आवाज़ करके नही बोला। वास्तव में मेरी भी बोलने की इच्छा नही हुई।

गाधीजी की कुटिया से कुछ सौ गज़ की दूरी पर मिट्टी और बाँस की सादी-सी अतिथिशाला थी, जहाँ हमें ठहरना था। हमने वहाँ पहुँच कर भारतीय भोजन किया, जो लगभग आश्रम के बगीचे में उगी हुई चीज़ो से ही तैयार किया गया था। भोजन बिलकुल सादा और बहुत ही कम मसाले का था, लेकिन था

बडा अच्छा—भात, चपाती, भाजी, दाल और एक मिठाई ।

गाधीजी के स्वप्नो मे एक स्वप्न यह भी था कि एक दिन भारत का प्रत्येक गाँव आत्म-निर्भर हो जाय। उन्होने एक वार कहा था—"ग्राम-स्वराज्य से मेरा आशय यह है कि हर गाँव पूर्ण गण-राज्य हो, अपनी आवश्यकताओ के लिए पडोसियो पर किंचित्मात्र भी निर्भर न हो। परन्तु उन वातो मे, जिनमें एक दूसरे पर निर्भर रहना आवश्यक है, वे एक दूसरे पर निर्भर हो। इस प्रकार प्रत्येक गाँव का सर्वप्रथम काम होगा कि वह अपने खाने-पहनने के लिए अन्न और कपास उत्पन्न करे। पशुओ के लिए चरागाह हो, प्रौढो और बच्चो के लिए मनोरजन तथा खेल के मैदानो की व्यवस्था हो, गाँव का अपना नाट्य-गृह, पाठशाला और सार्वजनिक सभा-भवन हो। बुनियादी पाठ्यक्रम तक शिक्षा अनिवार्य हो। जहाँ तक सम्भव हो, प्रत्येक काम सहकारिता के आधार पर किया जाय।" सेवाग्राम यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा था कि एक दिन सारे भारत में इस लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है।

सेवाग्राम मे नौकर थे ही नही। आर्यनायकम् की पुत्री मीट्ठू और उसकी सहेलियो ने हमारे लिए भोजन तैयार किया था। सोने से पहले मीट्ठू से मेरी वातें हुई। उसने सेवाग्राम महा-विद्यालय मे शिक्षा पायी थी। अपनी अधिकाश सहेलियो के विपरीत वह अग्रेज़ी जानती थी। उसने बताया कि आश्रम के प्रत्येक व्यक्ति को इस बात से आश्चर्य हुआ कि हम अपने साथ कोई नौकर नही लाये थे और हम मे से प्रत्येक के पास केवल एक-एक झोला था, जिसमें हमारे पहनने के कपडे थे (हमें वहाँ सिर्फ दो दिन ठहरना था)। मुझे उनके आश्चर्य पर विस्मय हुआ।

मैंने उसे बताया कि अमरीका मे बहुत ही कम लोगो के पास नौकर हैं और चूँकि हमारे पास नौकर नही हैं, इसलिए हम सिर्फ ज़रूरी सामान लेकर यात्रा करते है। हम अमरीकी हैं और मै नही समझती कि यह बात या कोई अन्य वात हमें यह अधिकार प्रदान करती है कि हम दिखावा करें। मैंने कहा कि अमरीकी होने के नाते हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि अमरीकी अपने देश में करते हैं, तब तक, जब तक कि हमारे इस व्यवहार और भारतीय रिवाज मे किसी तरह का सघर्ष न पैदा होता हो।

मीट्ठू ने स्वीकार किया कि हमारे लिए नौकरो का साथ मे लाना अस्वा-

भाविक होता। उसने मुझे बताया कि प्राय जब "विशिष्ट" व्यक्ति वहाँ आते है तो उनके साथ नौकर-चाकर तथा बहुत-सा सामान होता है। मैं सोचने लगी कि मीट्ठू तथा आश्रम के अन्य लोगो को भी ऐसे लोगो के परावलम्वी और उलझन भरे रहन-सहन के प्रति वैसा ही खेद होता था या नही जैसा कि मुझे हुआ। हम जरा नीचे, तखतनुमा, मच्छरदानी लगे हुए और रज़ाई से ढँके हुए बिछौनो पर सोये। रात बडी सुहावनी थी।

सेवाग्राम को गाधीजी के आश्रम के लिए, उनके इस निश्चित आदेशो के अनुसार चुना गया था कि वह भारत के निर्धनतम भाग में निर्धनतम गाँव होना चाहिए। उनकी एक शर्त यह थी कि वहाँ तब तक बिजली नही होनी चाहिए, जब तक कि वह इतनी सस्ती न हो जाय कि निर्धनतम ग्रामीण भी उसे पा सके। जो लोग जाग रहे थे, वे मिट्टी के तेल की लालटेनो की मन्द रोशनी में अपना काम कर रहे थे।

सुबह के पहले प्रकाश में किसी ने धीमे से हमें जगाया। हम कपडे पहन कर ६॥ बजे आश्रम के भोजन-गृह में नाश्ता करने के लिए तैयार हो गये, किन्तु हम अपेक्षाकृत अधिक सोने वाले थे। बहुत जल्दी सोकर उठनेवालो में से कुछ लोग ४॥ बजे की प्रार्थना-सभा में हो आये थे। सारा आश्रम ५॥ बजे तक जग कर सबेरे के कामो मे—खास तौर से नाश्ते की तैयारी में—लग चुका था।

भोजनकक्ष स्कूल और कालेज के विद्यार्थियो और उनके अध्यापको से भर गया था, जिनमें सभी जाति और धर्म के लोग थे—जो कच्चे फर्श पर पंक्ति मे बैठे हुए थे, हम भी बैठ गये और हमें तांबे का एक-एक खाली गिलास दिया गया। तभी विद्यार्थियो के दल ने प्रवेश किया, जिनके हाथो में दलिया से भरी हुई एक बडी बालटी और गर्म दूध के बर्तन थे। जब सबको नाश्ता परोसा जा चुका, तब एक छोटी-सी प्रार्थना और स्तुति-गान हुआ।

जैसे ही किसी का खाना समाप्त होता, वह अपना गिलास और कटोरी लेकर बाहर चला जाता और राख से माँज-धो कर उन्हे साफ कर देता। फिर आश्रम के विद्यार्थी पूर्व-निर्धारित दलो में बँट कर रसोई के बर्तनो को साफ करने, फर्श बुहारने, कुएँ से पानी लाने जैसे छोटे-छोटे कामो मे लग गये।

विद्यार्थियो का बाकी समय अपनी कक्षा में कृषि-कार्य पर बीतता था (प्रत्येक विद्यार्थी औसतन प्रतिदिन दो घण्टे कृषि-कार्य करता था)। फुरसत के

समय वे इच्छानुसार पढना, कपडे धोना, कातना आदि कोई भी काम कर सकते थे। कताई का काम सबसे ज्यादा लोकप्रिय था। यह काम लाभदायक होने के साथ-साथ आराम-देह भी था और चिन्तन तथा एकाग्रचित्तता के लिए अवसर देता था।

नाश्ते के पश्चात् जब धरती पर ओस अभी मौजूद ही थी, हम खेतो में गये और हमने तरकारियाँ, बाजरा, मक्का और कपास की उत्तम फसलें तथा केले, सतरे और पपीते के कुंज देखे। इनमे से अधिकाश फसले इससे पूर्व इस क्षेत्र में गाँववालो ने कभी पैदा नही की थी। जब गाधीजी इस गाँव में पहले-पहल आये, तब इस क्षेत्र मे कपास और अरडी के अतिरिक्त शायद ही किसी चीज की खेती होती थी।

हमने कॉलेज के एक विद्यार्थी को एक कुएँ के चारो ओर खूब तगडे बैलो की जोडी हाँकते हुए देखा। इस प्रकार वह रहँट की बाल्टियो की माला से साफ पानी निकाल रहा था। पानी निरतर छोटी-छोटी नालियो मे होकर टेढे-मेढे रास्तो से बगीचे में पहुँच रहा था, जहाँ अन्य विद्यार्थी काम कर रहे थे। कॉलेज के लडके धूप मे कृषि का काम करके अपने हाथ गन्दे कर रहे थे यह भारत में नयी बात है, किन्तु यह काम सेवाग्राम के विद्यार्थी की शिक्षा का बहुत महत्वपूर्ण अग है।

हम खेतो से लौटकर मुर्गीखाना और दुग्धालय देखने गये। ये दोनो गाँव के साधारण-से-साधारण मुर्गीखाने और गोशाला से ज़रा ही बढ कर थे; किन्तु थे खूब साफ-सुथरे और हवादार। हर चीज़ बिलकुल सादी और ऐसी थी कि औसत गाँववाला उसे समझ सके। चूँकि मुर्गियाँ और मवेशी स्वस्थ थे और अच्छी खुराक पाते थे इसलिए यहाँ की मुर्गियाँ उतने अण्डे और गायें उतना दूध देती थी, जितना कि गाँववाले पहले असम्भव मानते थे। छोटे-छोटे परिवर्तनो ने महान् सुधार कर दिये थे।

वहाँ से हम आश्रम के छोटे पुस्तकालय में गये। वहाँ का पुस्तकाध्यक्ष दक्षिण आफ्रीका से आया हुआ एक वृद्ध जर्मन था। पुस्तकालय में शायद कुछ सौ ही किताबें थी लेकिन वे कई भाषाओ और विषयो की थी।

फिर हम पूर्व-बुनियादी शाला में गये जो सात साल के बच्चो के लिए थी। एक नौजवान शिक्षक ने उस छोटे-से स्कूल को हमें दिखाया। अधिकाश बच्चे

स रुई को—जिसे उन्होने उगाया और हाल में तोडा था—साफ करने, धुनने और कातने में लगे हुए थे। कुछ वच्चे गा-गा कर काम कर रहे थे। सभी प्रसन्न, समझदार और साफ-सुथरे नज़र आते थे।

शिक्षक ने बताया कि अधिकाश बच्चे दिन के समय सेवाग्राम के गाँव से आते हैं। कपास उगाना सिर्फ हाथ का काम नही है। कपास उगाकर और चुन कर छोटे वच्चे सामान्य विज्ञान भी सीख जाते हैं, और उन्होने कितना उगाया और कितना काम किया—इससे उन्हे गणित का भी बोध हो जाता है। विश्व में जिन स्थानो पर कपास पैदा होती है और उनकी अपनी उगायी हुई कपास कहाँ तक पहुँच सकती है, इस विषय पर चर्चा करके वे भूगोल सीख जाते हैं। और उन देशो की शासन-व्यवस्था तथा वहाँ के लोगो के बारे में जो वात होती है, उससे उन्हे सामाजिक ज्ञान हो जाता हैं।

यह है गाधीजी की बुनियादी शिक्षा का व्यावहारिक रूप—जो किसी क़दर अमरीका के उन सार्वजनिक स्कूलो में व्यवहृत "काम द्वारा शिक्षा" पद्धति से मिलता-जुलता है, जहाँ मैं पढी थी। भारत में जो स्कूल वन रहे हैं, उनमें से अधिकाश इस बुनियादी-शिक्षा के पाठ्यक्रम को अपना रहे हैं।

वाद को तीसरे पहर हमने उस क्षेत्र के अस्पताल का निरीक्षण किया जो आश्रम से मील-दो मील की दूरी पर है। यह अस्पताल आश्रम के आसपास के लगभग ७५ गांवो की सेवा करता है। ग्रामीण-चिकित्सा का अनुसधान-केन्द्र होने के अलावा यहाँ बुनियादी शिक्षा-विभाग के शिक्षार्थी अध्यापको को भी प्रशिक्षण दिया जाता है ताकि उन गांवो में, जिन में किसी प्रकार की चिकित्सा सम्वन्धी सहायता उपलब्ध नही है, वे स्कूल के चिकित्सालय चला सकें।

सेवाग्राम से हम मोटर द्वारा वर्धा के अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सघ को देखने गये। इसे भी गाधीजी ने शुरू किया था। यहाँ भारत के अनेक भागो के कारीगरो को कागज वनाने, मिट्टी के वर्तन तैयार करने, साबुन वनाने, तेल निकालने और मधुमक्खी पालने की शिक्षा दी जाती है। ये सव काम पेचीदी मशीनो के विना होते हैं।

अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सघ का भवन दर्शनार्थियो के लिए इसलिए खुला रहता है, कि ऐसे उद्योगो में रुचि वढे। इस सगठन को चलानेवाले लोगो का गाधीजी की तरह ही विश्वास है, कि यदि ग्रामीणजन सामान्य

ग्रामोद्योग का विकास करें तो जो वनस्पति-सामग्री उस समय वर्वाद हो जाती है, उसे उपयोग मे लाया जा सकता है और जो किसान खेतो पर काम न होने के समय वेकार रहते हैं, उन्हे पूरे वर्ष काम और कमाई का एक नया जरिया मिल सकता है।

उस रात को प्रार्थना-सभा के कुछ देर वाद सोने से पहले, मैंने पहले से भी अधिक प्रवलता के साथ अपने चारो ओर शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव किया। मैंने सोचा कि सेवाग्राम का यह सामुदायिक रहन-सहन, काम-काज, शिक्षा-दीक्षा और खेलकूद कितना शान्तिपूर्ण क्रान्तिकारी है। तव मेरी समझ मे आया कि क्यो वहुतो के लिए सेवागाम भारत की भावी आशा का प्रतिनिधि और देश की महान् सामाजिक क्रान्ति का अगुआ है। अव मैं सेवाग्राम को सेवा के गाँव से अधिक मानने लगी थी। वह शान्ति और आशा का गाँव है।

गाधीजी ने एक वार कहा था—"जव हमारे गाँवो का पूरी तरह से विकास हो जायगा, तव उनमे ऊँचे दर्जे की वौद्धिक और कलात्मक प्रतिभावाले लोगो की कमी नही रहेगी। गाँव के कवि होगे, गाँव के कलाकार होगे, गाँव के भवन निर्माण-विशारद होंगे, भाषा-शास्त्री होगे और अनुसधान का काम करनेवाले लोग होगे। सक्षेप में जीवन की कोई ऐसी वाछनीय चीज वाकी नही रहेगी जो गाँवो में नही होगी। आज भारत के गाँव गोबर के ढेर हैं। कल वे छोटे-छोटे नन्दनवन वनेंगे, जिन के निवासी प्रतिभावान होंगे, जिन्हे न कोई धोखा दे सकेगा, न जिनका कोई शोषण कर सकेगा।"

गाधीजी आशावादी थे, किन्तु वहुत ही व्यावहारिक भी। यदि "छोटे नन्दनवनो" वाले भारत का कभी उद्भव हुआ, तो सेवाग्राम के सामुदायिक जीवन और विकास का उदाहरण तथा वह नयी शिक्षा-पद्धति, जो सेवाग्राम के स्कूलो मे चरितार्थ हो रही है, उसके निर्माण की दिशा मे वे एक महत्वपूर्ण कदम माने जायँगे।

अगले दिन सुवह नाश्ता करने के वाद ही हमने अपने मित्रो से और सेवाग्राम से विदा ली। हमें आर्यनायकम् से विछुडने का विशेप रूप से दुख हो रहा था। हम महसूस कर रहे थे कि भारत के विकास के आगामी अत्यन्त

महत्वपूर्ण वर्षों मे मार्गदर्शन के लिए वैसा ही विश्वास चाहिए जैसा आर्यनायकम् का था।

हम सेवाग्राम से नागपुर के लिए रवाना हुए, जहाँ हमें नयी दिल्ली के लिए वायुयान पकडना था। रास्ते में हम विनोवा भावे के छोटे-से आश्रम पर ठहरे। आश्रम तो अविक प्रभावशाली नही था, किन्तु विनोवा जी का वहुत नाम था। उन्होंने स्वाधीनता-सग्राम में गाधीजी के साथ ही काम किया था और प्रवान मत्री नेहरू को छोडकर भारतीय जनता शायद उन्हे ही सव से अधिक जानती है।

सन् १९५१ में विनोवाजी ने भूदान-यज्ञ के नाम से एक आन्दोलन शुरू किया। विनोवाजी का विश्वास है, जैसा औरो का भी है कि भूमि-सुवार और भूमि का पुर्नवितरण नये राष्ट्र के रूप में भारत की उन्नति का बहुत महत्वपूर्ण अग है। वे यह भी महसूस करते हैं कि चूकि धारासभाओ में भूस्वामियो का प्रभाव है, इस वजह से इस मामले में सरकार वहुत धीमी गति से काम कर रही है।

अतएव एक गाँव से दूसरे गाँव, देश के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त, की पैदल-यात्रा करके विनोवाजी उन लोगो से—जिनके पास भूमि है, यह माँग करते है कि वे अपनी कुछ भूमि उन्हे दें, जो भूमिहीन हैं। जमीदारो से विनोवाजी कहते है, "मैं तुम्हें प्यार से लूटने आया हूँ। भारत के वहुत-से लोग भूमिहीन हैं। यदि तुम में से किसी के पाँच पुत्र मौजूद हो तथा वाद में छठा पुत्र और हो जाय, तव तुम अपनी सम्पत्ति को पाँच के वजाय छ भागो में वाँटोगे। मैं भूमिहीनो की ओर से तुमसे छठा भाग माँग रहा हूँ। मुझे अपना छठा पुत्र समझो।"

इस सीधे-सादे अनुरोध का उल्लेखनीय परिणाम निकला है। आन्दोलन शुरू करने के वाद से अव तक विनोवा जी को ४० लाख एकड से अधिक भूमि प्राप्त हो चुकी है, जिसे जल्दी से जल्दी भूमिहीन किसानो में वाँटा जा रहा है।

दूसरे दिन स्कूल में मैंने सोचा कि सुमन और दिल्ली पब्लिक स्कूल के मेरे अन्य मित्र यदि देश के इस विकास-काल में उसकी अधिक-से-अधिक सेवा

वात है कि उनमें से अधिकाश की आँखें जल्द ही खुल जाती हैं और वे उससे सम्वन्ध विच्छेद कर लेते हैं।

सुमन की नानी और माँ ने गाँव मे काम करने की वात कभी सपने में भी न सोची होगी। सुमन ने यह वात सोची। शायद उस का वच्चा गाँवो मे काम कर सकेगा और तव अगर उसका विरोध होगा भी तो वहुत मामूली।

मेरा विश्वास है कि वह दिन दूर नही, जव ६००,००० गाँवो को—दूरवर्ती निर्धनता-ग्रस्त मिट्टी के घरौंदे नही, वल्कि शहरो के निकटतम पडोसी और भारतीय जीवन का सवसे महत्वपूर्ण केन्द्र माना जायगा।

सात

समस्यापूर्ण बच्चे

कुछ ही महीने बीतने पाये थे कि मैं दिल्ली के पब्लिक स्कूल के अपने जीवन के प्रति असन्तोष का अनुभव करने लगी, उस समय तक मैं नयी दिल्ली के अलावा भारत के अन्य भागो को भी देख चुकी थी और जान गयी थी कि दिल्ली की चौडी-चौडी, वृक्ष लगी सडके और बडे-वडे आलीशान मकान किसी भारतीय नगर के तो कम प्रतीत होते थे, योरोपीय नगर के अधिक।

मैं नया और डगमगाते हुए प्रजातत्र का देश—नेपाल देख चुकी थी और अनोखा, शान्तिमय सेवाग्राम भी। मेरा खयाल है कि वास्तव मे मुझमे असन्तोष वही जागा। मैं बहुत-से भारतीयो और नेपालियो से तथा उनकी समस्याओ से परिचित हो चुकी थी। मैंने अन्य लोगो के कष्टो को देखा था, जिन्हे मैं जानती नही थी और मैं चाहती हूँ कि उन्हे कष्ट नही भोगना चाहिए।

मुझे लगा कि करने को काम वहुत है, लेकिन उसे मन से करनेवालो की कमी है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि जो मुझसे हो सकता है, मै करूंगी। यद्यपि मै जानती थी कि मैं पन्द्रह साल की लडकी जितना कुछ भी करूंगी, कम ही होगा।

ग्रामर स्कूल के दिनो से ही मेरी रुचि नर्सिग के काम मे थी। इसलिए एक

अंग्रेज़ महिला के ज़रिए, जिसे मेरी माँ जानती थी और जो दिल्ली के अस्पतालों में काम कर चुकी थी, मुझे १९५२ में मार्च के प्रारम्भ में इरविन अस्पताल के बच्चो के वार्ड में स्वेच्छा से काम करने का अवसर मिल गया। इरविन अस्पताल उन अस्पतालो में है जिन्हे दिल्ली सरकार से सहायता मिलती है।

पहले दिन वार्ड की सरक्षिका नर्स ने मेरे लिए एक आज्ञा-पत्र लिख दिया, किन्तु मुझे उसे काम में लाने की कभी जरूरत ही नही पडी। मैं जब जी चाहे आती थी, जब जी चाहे चली जाती थी। पहले तो मार्च और अप्रैल में जब स्कूल की पढाई चल रही थी, मैं ४॥ से ७ बजे तक या अक्सर उसके बाद भी ८-८॥ बजे तक काम करती थी। चूकि वह काम मुझे प्यारा था, इसलिए मैं ज्यादातर घर लौटती थी, इस कारण कि घर जाना ज़रूरी था, इस कारण नही कि घर जाने की इच्छा होती थी। मई में जब स्कूल गर्मियो के लिए बन्द हो गया, मैं दोपहर के बाद तमाम दिन, कभी-कभी ७ बजे तक काम करने लगी। मैं रोज़ काम पर जाती थी और बिलकुल थक कर घर लौटती थी, फिर भी मैं बडी प्रसन्न रहती थी। बच्चो मे घुल-मिल कर मैं अपनी छोटी-मोटी समस्याएँ भूल जाती थी।

वह वार्ड अस्पताल के काफी बडे भाग में था। उसके एक ओर एक सिरे से दूसरे सिरे तक खुला हुआ बरामदा था, जिसकी वजह से कमरे में काफी रोशनी और हवा आती थी। वार्ड में दोनो ओर दो कतारो में लगभग ४० पलग थे। कभी-कभी रोगियो की सख्या पलगो से बढ जाती थी। एक बार तो कम गम्भीर रोगियो के लिए १५ अतिरिक्त बिछौने फर्श पर ही लगाने पडे थे। मुझे खुशी थी कि अस्पताल के नियम इतने कठोर नही थे कि अतिरिक्त रोगियो को भरती करने से मना कर दिया जाता।

मेरा वार्ड असक्रामक रोगो से पीडित बच्चो के लिए था, जिनमें से अधिकाश को चीर-फाड की जरूरत होती थी। वैसे तो किसी बच्चे के टॉन्सिल्स बढे होते थे, कोई जल गया होता था, किसी की हड्डी बेतरह टूटी होती थी और किसी को कोई स्पर्श-रोग होता था। कई सडक की दुर्घटनाओ के शिकार होते थे। एक छोटी लडकी जो मुझे बडी प्यारी थी, दृष्टिहीनता के एक नये-से रोग से पीडित थी जिसका इलाज हो सकता था। उसकी दशा के सुधार को मैं बडी उत्सुकता से देखती रही। अन्धता ने उसके जीवन में सूनापन भर

दिया था, इसलिए दूसरे बच्चो को देखने के लिए वार्ड का चक्कर लगाते वक्त मैं रोजाना उसे उसके बिस्तर से उठाकर अपने साथ ले जाती थी।

चिकित्सा के अलावा जो ध्यान मैं बच्चो की ओर देती थी उसके लिए वे लालायित रहते थे। अस्पताल में नर्सें बहुत कम थी और जिस प्रकार का काम मैं कर सकती थी, वह बहुधा नही हो पाता था।

चीरफाड के लिए बच्चो को बेहोशी की दवा दिये जाने की हालत को छोडकर मै उन्हे पानी पिलाया करती थी, जिसकी गर्मी के दिनो मे बहुत ही मांग रहती थी। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, उन बच्चो ने मुझे काफी हिन्दुस्तानी सिखा दी और इस प्रकार मैं उन बच्चो के पास बैठ कर बातें करने लगी जो बातें कर सकते थे। कभी-कभी नर्सें किसी बच्चे को पेनिसिलिन का इजेक्शन देते समय उसे सम्हालने में मेरी सहायता लेती, या किसी के पट्टी बाँधते समय मुझे उसे बहलाने का काम देती। कभी मैं उनके खाने के वक्त भी मौजूद होती थी, तब जो बच्चे खुद खा नही सकते थे, मैं उन्हे भोजन कराने में हाथ बँटाती।

किन्तु, खिलौनो की अलमारी से मेरा जो सम्बन्ध था, वह बच्चो को सब से ज्यादा अच्छा लगता था। अधिकारी नर्स ने मुझे एक बडी-सी चाबी दे रखी थी। यह चाबी बरामदे की उस अलमारी की थी जो—गेंदो, गुड्यिो, मोटरो, ढोलो और पहेलियो जैसे अनेक खिलौनो व रगीन पेन्सिलो, रगो, चित्रो की कापियो, कहानी की किताबो आदि से भरी हुई थी।

ढोलो ने बडी समस्या पैदा कर रखी थी। ये ढोल नये-नये, चमकदार और बडे आकर्षक थे। इस कारण सब खिलौनो मे उनकी माँग सब से ज्यादा रहती थी। ढोल थे सिर्फ तीन और हर एक के लिए बच्चे आपस में छीना-झपटी करते रहते थे। सबसे ज्यादा मुश्किल थी उनके शोर के कारण। मैंने समझ लिया कि छोटे-छोटे बच्चो से ढोलो को धीरे बजाने के लिए कहना बेकार था। इसलिए एक दिन वे ढोल रहस्यपूर्ण ढग से वार्ड से छूमन्तर हो गये।

प्रतिदिन वार्ड में आते ही मैं पहले वह बडी चाबी लेने जाया करती थी और पांच-छ बच्चे जो चल-फिर सकते थे मुझे घेर लिया करते थे। मुझे उनकी नमस्ते और उनका शोर मचाकर यह कहना कि "बहनजी आयी हैं, बहनजी

आयी हूँ !" बडा अच्छा लगता था। वे इसका पूरा खयाल रखते थे कि मैं रोजाना आते ही सबसे पहले खिलौनो की अलमारी खोलूँ।

मैं प्रत्येक शैयाग्रस्त बच्चे के लिए एक-एक खिलौना ले जाती थी, उनसे 'नमस्ते' करती थी और जरा देर उनसे बाते करती थी। कभी-कभी कोई बच्चा कहानी सुनने की इच्छा प्रकट करता था। तब मैं यह इन्तजाम करके कि सभी बच्चो के पास कोई-न-कोई खिलौना पहुँच गया है, वापस उसके पलग के पास आकर उसे तथा उसके पास जमा हो जानेवाले बच्चों को कहानी पढ कर सुनाया करती थी।

अधिकाश बच्चे सिर्फ हिन्दुस्तानी जानते थे। शुरू के कुछ हफ्तो में मैं उनसे ज्यादा नही बोल पाती थी, किन्तु मैं हिन्दी पढ लेती थी। मैने देवनागरी वर्णमाला स्कूल में सीखी थी और यद्यपि जो कुछ मैं पढती थी उसे हमेशा ही नही समझ पाती थी। लेकिन बच्चे तो उसे समझ ही लेते थे और मेरे पढने में उन्हे आनन्द आता था। उनकी पसन्द की एक कहानी थी 'लाल मुर्गी' जिससे बहुत-से अमरीकी बच्चे भी परिचित हैं।

किन्तु, दिन-प्रति-दिन हिन्दुस्तानी का मेरा शब्द-ज्ञान बढता गया। रोजाना बातचीत के दौरान में मैं दो या तीन शब्द ऐसे चुन लेती थी जो मुझे नही आते थे ताकि घर आकर मैं शकूर से उनका अर्थ पूछ सकूँ। जब मैंने अस्पताल छोडा उस समय मेरी हिन्दुस्तानी बच्चो जैसी थी, क्रिया की गलतियो और गंवारू प्रयोगो से भरपूर, किन्तु वह मेरे और बच्चो के बीच पुल का काम देती थी और यही सब से महत्त्व की बात थी।

मुझे भाषा की गडबडी की एक बात अच्छी तरह याद है। एक दस साल के बच्चे के पैर की हड्डी टूट गयी थी, इसलिए वह पलग से हिलडुल भी नही सकता था। वह हमेशा चाहता था कि मैं उसके पास बैठूँ, बातें करूँ और कभी-कभी उसके साथ खेलूँ। एक दिन बादल छाये हुए थे और मौसम बडा उदास था। मैने उसे कुछ रग और चित्रकारी की एक किताब लाकर दी।

"बरुश है ?" उसने मुझसे पूछा।

"नही", मैंने कहा—"बारिश नहीं हो रही है, लेकिन किसी भी क्षण हो सकती है।"

वह बोला—"नही बहन जी, बरुश, बरुश; आपके पास बरुश है ?" और

तब मेरी समझ मे आया कि वह अंग्रेजी मे मुझसे 'ब्रश' मांग रहा था, जो मैं अलमारी मे छोड आयी थी और उसे देना भूल गयी थी।

वह बडे दुःख का समय होता था, जब मैं वहां से रवाना होती थी और मुझे बच्चो से खिलौने ले लेने पडते थे। वह समय प्रायः मुलाकातियों के आने के ठीक पहले पडता था। बच्चे जानते थे कि उनके माता-पिता जल्दी ही आनेवाले होगे, इसलिए इस बात से ही मैं उन्हे बहलाती थी। अधिकांश माता-पिता और मित्र, जो मुलाकात के समय आते थे, गरीब होते थे और अस्पताल के इलाज के पैसे देना उनके बूते के बाहर होता था। परन्तु वे बच्चो का प्यार करते थे और उनके लिए मिठाई, फल-फूल और तरह-तरह के छोटे-छोटे खिलौने लाया करते थे। बहुत-से माता-पिता अस्पताल से दूर रहते थे और निस्सन्देह उनके यहाँ और बच्चे भी होते ही होगे। फिर भी हर रोज़ लगभग सभी बच्चो से कोई-न-कोई तो मिलने आता ही था।

अधिकांश बच्चे कम-से-कम एक सप्ताह अस्पताल मे रहते थे। एक-दो दिन मे मैं नये आये हुए बच्चे का नाम जान जाती थी और बच्चा यह जान जाता था कि मैं बहनजी हूँ, जो रोज़ाना बच्चों की मदद करने और उनके साथ खेलने आती हैं। फिर हम अच्छे-ख़ासे दोस्त बन जाते थे और यदि किसी बच्चे का आपरेशन होने को होता, तो उसे विश्वास होता था कि जब वह आपरेशन के बाद वार्ड मे लौटेगा तो मै, उसकी मित्र, उसे वही मोजूद मिलूंगी।

चलने-फिरने लायक बच्चे तो शरारत का घर ही होते थे। मुझे उन्हे शान्त और प्रसन्न रखने से ही फ़ुर्सत नही मिलती थी। जो बच्चे एक हफ्ते से ज्यादा अस्पताल में रहते थे, उनसे मुझे सचमुच ममता हो जाती थी और यद्यपि उनके स्थान पर हमेशा दूसरे बच्चे आते रहते थे, फिर भी जो कोई बच्चा घर चला जाता था, मुझे उसकी याद आया करती थी।

वार्ड मे जो थोडी-सी नर्सें थी, वे प्रायः व्यस्त रहती थी और हर पन्द्रहवे दिन बदल जाया करती थी, इसलिए उनमे से किसी से भी मेरी अच्छी तरह जान-पहचान नही हो सकी। मुझे ऐसा लगा कि वे नर्सें तो हो गयी थी, किन्तु समाज-सेवा की भावना से नही, बल्कि जबतक उनकी शादी नही हो जाती, तब तक के लिए भरण-पोषण करने के उद्देश्य से। उनमे से सभी बच्चो के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नही थी। लगभग सभी नर्सों और बहुत-से डाक्टरो की शिक्षा

दिल्ली में ही हुई थी। कई डाक्टरो ने इग्लैण्ड में और कुछ ने अमरीका में शिक्षा पायी थी।

मुझे कुछ बच्चो की अच्छी तरह याद है। एक थी कस्तूरी, जिसने खौलता हुआ पानी अपने ऊपर गिरा लिया था जिससे उसका कमर से नीचे का हिस्सा बुरी तरह जल गया था। वह अस्पताल के नजदीक ही छोटे-से कच्चे घर मे रहती थी। यह घर उस सडक पर था, जो उस स्थान तक जाती थी—जहाँ गाधीजी की अस्थियो का समाधि-स्थल है। इस स्थान को सारे भारत में बडी श्रद्धा से देखा जाता है। कस्तूरी ने बताया कि उसके पिता और चाचा पडोस में बननेवाली बहुत सी इमारतो में से किसी एक में मज़दूरी करते हैं। कस्तूरी से मिलने को मैं हमेशा उत्सुक रहती थी।

एक और छोटा लडका था, जिसके पैर में रोग था। नर्सों ने उसका नाम 'चुप्पा' रख छोडा था। अधिकाश बच्चो की तरह उसमें और किसी भी अमरीकी बच्चे में कोई अन्तर नही था।

वह बच्चों में सब से ज़्यादा मोहब्बती था और जब कभी मैं उसके बिस्तर के पास से गुज़रती थी, वह अपनी दोनो बाहें फैलाकर मुझसे उठा लेने का आग्रह करता था। वह न मेरे साथ खेलता था, न दूसरे बच्चो के साथ। वह केवल यह चाहता था कि मैं जहाँ भी जाऊँ, उसे उठाकर अपने साथ ले जाऊँ। नर्सों का कहना था कि वह बोल नही सकता। वास्तव में मैंने भी उसे बोलते कभी नही सुना था, सिवाय उस एक दिन के, जिस दिन गर्मी बडी तेज़ थी और मैंने किसी बच्चे के लिए बर्फ का पानी ले जाते वक्त बर्फ का एक टुकडा उसके पैर पर मल दिया था। वह मुस्कराकर (वैसे वह कभी ही मुस्कराता था) बोल पडा—'ठडा'। उसके बाद मैं समझ गयी कि वह बोलना जानता है और मैंने सोचा कि शायद अपरिचित स्थान और अपरिचित लोगो के बीच में होने के कारण ही वह बोलने से डरता है।

मुझे मोहन की याद है जिसकी हँसली टूट गयी थी। उसे पीठ के बल पडा रहना पडता था। उसकी गर्दन पर प्लास्टर किया गया था। मेरी गटबट हिन्दुस्तानी को लेकर वह मुझे चिढाया करता था और दूसरे कई बच्चो की तरह मेरे मुँह के धब्बो को लेकर मुझे छेडा करता था।

जो बच्चा मुझे सबसे ज्यादा याद है, वह है लँगडे पैरवाला छोटा-सा

रामचन्द। यह मज़ेदार बारह साल का लडका गर्मियो में कम-से-कम एक महीने अस्पताल में रहा था। तीन महीने बाद वह फिर अस्पताल आया था। सब बच्चो में सब से ज्यादा समय तक उसे जानने का मुझे मौका मिला। दूसरे बच्चे आते और चले जाते थे लेकिन वह बना ही रहता था। वह सभी अर्दलियो, डाक्टरो और नर्सों को पहचानता था और लँगडाते-लँगडाते वार्ड में घूमकर सभी बच्चो से परिचित हो गया था। वह शरारती था लेकिन दुष्ट नही।

मेरे अस्पताल छोडने से पहले के सप्ताह मे उसका आपरेशन हुआ और जब मैं तीसरे पहर अस्पताल आयी, वह चुपचाप बीमारी की हालत में पलग पर लेटा हुआ था। उसके पैर पर भारी प्लास्टर चढा हुआ था। वह मुझे देखकर मुस्कराया और उसने मुझ से ज़रा देर अपने पास बैठने और बाते करने के लिए कहा। जब मैं हमेशा के लिए अस्पताल से विदा हुई उस समय भी वह शैयाग्रस्त था। गभीर, वीर और एकाकी! उसके माता-पिता दिल्ली के बाहर एक छोटे-से गाँव में रहते थे और कभी-कभी ही उससे मिलने और उसे देखने आ पाते थे।

कालेज में दो महीने पढने के बाद, मैं एक महीने के लिए अस्पताल वापस आयी। बच्चो का वार्ड नयी इमारत में चला गया था। वह वार्ड ज्यादा हवादार और खुशनुमा था। दीवारो पर सुन्दर रग किये हुए थे, रोशनी सौम्य किन्तु चमकदार थी, और प्रत्येक बच्चे के लिए एक छोटी अलमारी थी, जिसमें वह अपनी चीज़े रख सकता था।

वह वार्ड सडक के नजदीक था और खोन्चे वाले अक्सर बरामदे के नीचे तक आ जाते थे, जहाँ बच्चे उन्हे देख सकते थे। तब से मेरे लिए एक काम और बढ गया। बच्चे मुझे एक-दो आने देकर नीचे से अपने लिए चीज़े खरीद लाने के लिए कहते। प्राय वे खाने की ही चीजे होती थी—जैसे आलू या फल। कभी-कभी गुब्बारेवाला आ जाता था और तब हर छोटा बच्चा गुब्बारा मँगाता था।

मैने तमाम वसन्त और गर्मी में जुलाई के अन्त तक यानी कालेज जाते समय तक तथा उसके बाद छुट्टियो के महीने अक्तूबर में अस्पताल में काम किया।

मैं हर रोज़ दोपहर में अस्पताल जाने का समय होने की प्रतीक्षा किया करती थी। वह समय मेरे लिए दिन का सबसे महत्वपूर्ण समय होता था, जब मैं अपने को भूल कर दूसरो के लिए चिन्ता और विचार कर सकती थी, अस्पताल के ऐसे साधारण लोगो के लिए—जिनकी समस्याएँ मेरी सभी समस्याओ से कही ज्यादा बढ-चढ कर थी।

आठ

राह पर

मैं प्रतिदिन बाइसिकल पर अस्पताल आती-जाती थी। रास्ता चार मील से कुछ ज्यादा था। बरसात में या देर हो जाने पर मैं यह रास्ता आध घंटे से भी कम वक्त में तय कर लेती थी। किन्तु सामान्यतया इससे ज्यादा वक्त लगता था—अक्सर पैतालिस मिनट, क्योंकि लगभग और लोगो की तरह मुझे जल्दी नही होती थी।

वसन्त और गर्मी के महीनो में जब तापमान अक्सर ११५ डिग्री तक पहुँचता था, मैं दोपहर के भोजन के बाद ही अस्पताल के लिए रवाना हो जाती थी। दोपहर की धूप और गर्मी में मेरे बाहर जाने को मेरे कुछ मित्र मेरी मूर्खता समझते थे। इसके विपरीत मैं यह कभी नही समझ सकी कि कोई घर की चहार-दीवारी में कैद रह कर कैसे चैन पा सकता है? यदि मैंने गर्मी के दिनो में अपना काम जारी न रखा होता तो, उनकी तरह मेरा दिमाग भी निरन्तर गर्मी और उसके कारण अपनी परेशानी में ही पडा रहता।

खुली हवा में मजे-मजे बाइसिकल चलाने में मुझे किसी कदर ताजगी मिलती थी और मै इसी निर्णय पर पहुँचती कि काम में लगे हुए व्यक्ति को अपनी असुविधा की ओर ध्यान देने का मौका मुश्किल से ही मिलता है। जब तक मैं व्यस्त रहती थी तब तक दिल्ली की गर्मी से मुझे कोई परेशानी नही होती थी।

घर से निकलकर मै वृक्षो की कतारोवाली नॅकडी रैटेन्डन रोड पकडती

थी। मेरे दायें ओर अनेक फ्लैटोवाली नयी दुमज़िली इमारतो की एक बस्ती पडती थी। मेरे बाये ओर सडक पर उच्च श्रेणी के बडे इक-मजिले घर थे।

रैटेन्डन रोड के आखिरी सिरे पर एक दयालु बूढा व्यक्ति, जिसकी दाढी बर्फ जैसी सफेद थी, खुले मे दुकान लगाकर फल बेचा करता था—खरबूजे, तरबूज़, सेव, स्वादिष्ट लीचियाँ, आम, केले अथवा सीताफल; जैसा भी मौसम होता। नज़दीक ही दो छोटे लडके बाइसिकल ठीक करने का सामान सडक के एक ओर, पेड के नीचे फैला कर बैठते थे। जब मैं उधर से निकलती, वे हमेशा वहाँ मौजूद मिलते थे—कभी सोते हुए तो कभी खेलते हुए और कभी-कभी कोई बाइसिकल सुधारते हुए।

रैटेन्डन रोड के अन्त में मैं बायी ओरवाली छोटी गली में मुड जाती थी, जो चौडी-सी सडक—पृथ्वीराज रोड पर जाकर खत्म होती थी। पृथ्वीराज रोड के किनारे-किनारे सीमेण्ट के प्लास्टर की बनी नीची इमारते थी, जहाँ भारत सरकार के कार्यालय थे। दफ्तर बन्द होने के समय उस पर बाइसिकलो की वैसी ही भरमार रहती थी जैसी कि कनेक्टीकट में गर्मियो मे रविवार को तीसरे पहर रूट १ पर मोटरो की रहती है।

पृथ्वीराज रोड एडवर्ड अष्टम के पुतले को केन्द्र बनाकर गोलाकार घेरा बनाती हैं। मैं घेरे का चक्कर काटती हुई हार्डिज रोड पर आ जाती थी, जो थोडी दूर जाकर मथुरा रोड से मिलती है। मथुरा रोड पुरानी और नयी दिल्ली के बीच की बडी सडक है। वहाँ से अस्पताल लगभग दो मील रह जाता था। गर्मियो की ऐन दोपहर की तपन में ये सडके लगभग निर्जन होती थी। किन्तु शाम को जब मैं घर लौटती तब वहाँ बडी चहल-पहल रहती थी। कुछ लोग पैदल होते थे, सैकडो साइकिलो पर चलते थे, दर्जनो घोडो के ताँगे होते थे, करीब के गाँव से आयी हुई बैलगाडियाँ होती थी, कभी-कभी धीरे-धीरे चलनेवाले ऊँट की गाडी भी मिल जाती थी और इनके अलावा कुछ लारियाँ, बसें और मोटरें होती थी। बाइसिकलो की संख्या इतनी अधिक रहती थी कि हमे मोटरो के ड्राइवरो की तरह हाथ से सिगनल देने पडते थे।

जब मैं अपनी बाइसिकल पर होती, तब मुझमे एक प्रकार की आज़ादी और उमग की भावना आ जाती थी। घर आते वक्त मथुरा रोड पर एक

ढाल पडता था और सभी बाइसिकलवाले इस पर पूरी रफ्तार से नीचे उतरते थे। वच्चो की तरह हम तेजी से एक दूसरे से और धीरे-धीरे चलनेवाली गाडियो से आगे निकल जाते थे। उस समय हमे उन कारो का ज़रा भी ध्यान नहीं रहता था जो हमसे भी आगे निकलती थी।

जव मै १९५१ में शुरू-शुरू मे मथुरा रोड की ओर गयी थी, तव उसके दोनो तरफ वहुत-सी खुली जगह पडी थी। १९५३ में जब मैं रवाना हुई तव सव जगह इमारते वन रही थी। मथुरा रोड के पुरानी दिल्ली वाले सिरे पर दाहिनी तरफ एक वहुत वडा स्टेडियम है, जहाँ क्रिकेट और हाकी के मैच होते हैं, वायी ओर जेल की तरफ से जब मैं गुजरती तो अक्सर मुझे कैदियो के झुण्ड सडक पर जाते हुए मिलते थे, जिनके पैरो में वेडियाँ पडी होती थी और वे कुदाली और फावडे लिए हुए होते थे। दो या तीन खाकी वर्दीधारी पुलिसमैन उनकी निगरानी के लिए साथ रहते थे।

जैन धर्मशाला और स्टेडियम से आगे चल कर एक वहुत वडा चौराहा पडता है, जहाँ मथुरा रोड दिल्लीगेट होकर पुरानी दिल्ली मे चली जाती है। वायी ओर अस्पताल है, जो सर्क्यूलर रोड पर लगभग चौथाई मील तक फैला हुआ है।

मैं अस्पताल के अहाते में साइकिल रखने के स्थान पर अपनी वाइसिकल खडी कर देती थी। साइकिलो की निगरानी रखनेवाले दोनो व्यक्ति जल्दी ही मेरे अच्छे खासे दोस्त हो गये। उनमें से एक वहुत ही शर्मीला किन्तु देखने-सुनने में वडा अच्छा था। वह सिर्फ हिन्दुस्तानी वोल सकता था और मैं अस्पताल मे जो काम करती थी उसमें उसकी वहुत दिलचस्पी थी। हम दोनो, अपने काम के वारे में और कभी-कभी अमरीका के वारे में, वाते किया करते थे।

दूसरे आदमी ने, जो वडी उम्र का था—मेरी हिन्दुस्तानी सुधारने का जिम्मा लिया। उसकी अपनी भाषा हिन्दुस्तानी और अग्रेजी की अजीव खिचडी थी। वातचीत में जव वह किसी ऐसे शब्द पर अटक जाता जिसकी कि अग्रेज़ी उसे नही आती थी, तव उस शब्द को वह हिन्दुस्तानी में ही वोल देता था। वह मुझे वेवी कहता था।

मैं इन लोगो को दो आने रोज दिया करती थी जैसा कि वहाँ साइकिल

रखनेवाला हर शख्स किया करता था। अक्सर मैं पैसे लाना भूल भी जाती थी। तब वह बडी उम्रवाला व्यक्ति मुस्करा कर कहता—"परेशान होने की कोई बात नही है, बेबी ! कल दे देना।" साइकिल के पक्चर दुरुस्त करवाने के लिए मैंने कई बार उससे उधार पैसे लिये थे।

ट्यूब में पक्चर होकर हवा निकल जाना मेरे लिए लगभग रोज की बात थी, खास तौर से गर्मियो में जब सडक के गरम-गरम तारकोल और सीमेण्ट मे रबड कमजोर पड जाता था। मैं मई के महीने तक किराये की साइकिल पर जाया करती थी और मुझे हमेशा यह दिक्कत उठानी पडती थी। पहिये की हवा निकलती रहती थी और जजीर अक्सर उतर जाती थी। दिन के समय तो साइकिल ठीक करनेवाला नज़दीक ही मिल जाता था, क्योकि पूरी सडक पर आधे-आधे मील पर उनकी छोटी-छोटी दुकानें थी, किन्तु रात को भाग्य कम ही साथ देता था।

जब किसी खास जगह पर धधा मद हो जाता तो बाइसिकल ठीक करने वाला अपना सामान समेट कर दुकान वहाँ से बढा देता था। जहाँ कही भी उसे अच्छी जगह मिल जाती, वही वह सडक के किनारे किसी छायादार पेड के नीचे अपना सामान फैलाकर फिर बैठ जाता था। उस दिन के लिए वहीं उसकी दुकान बन जाती थी।

इन बाइसिकल मरम्मत करनेवालो में से अधिकाश मुझे साधारण साइकिल चलानेवालो की श्रेणी का ही मानते थे और ऐसी अमरीकी नही, जिससे कि ज्यादा पैसे वसूल किये जा सकते थे। प्रत्येक पक्चर ठीक करने के दो आने लगते थे और हवा भरने का आधा आना या मुफ्त। हमारे घर के नजदीक का साइकिलवाला मेरे टायरो को ठीक कर दिया करता था, भले ही मेरे पास पैसे हो या न हो, क्योकि वह जानता था कि एक-दो दिन बाद जब भी मैं उधर से गुजरूँगी, उसके पैसे चुका दूँगी।

एक दिन अस्पताल जाते समय रास्ते में एक मामूली टक्कर हो जाने से मेरी साइकिल का अगला पहिया बुरी तरह टेढा हो गया। मैं उसे सबसे नज-दीक की साइकिल की दुकान पर ले गयी और साइकिलवाले से मैंने कहा कि मेरे पास देने को अभी पूरे पैसे नही हैं, किन्तु जो भी रकम होगी वह मैं दूसरे दिन आकर चुका दूँगी। यद्यपि ठीक करने मे उसे कोई बीस मिनट मेहनत

करनी पडी, फिर भी उमने मुझसे कहा कि पैसो के लिए चिन्ता मत करो। अगले दिन जव मैं उसे पैसे देने पहुँची तो उसका कही पता न था।

मैंने पहियो की हवा निकल जाने की वास्तव में कभी पर्वाह नही की, सिवाय इमके कि उनपर खर्च होता था। किन्तु साइकिल चलाने के सम्बन्ध में एक वात ऐसी थी, जो मुझे बुरी तरह खलती थी और जिसके कारण कभी-कभी मुझे घर से निकलने में भय भी लगता था। २० जून को मैंने इस वात से उकता कर अपनी डायरी में लिखा, "मित्रतापूर्ण, मित्रतापूर्ण भारत! किन्तु मैं घूरनेवालो से तग आ गयी हूँ।"

अपनी ओर घूरती हुई आँखो की मैं कभी अभ्यस्त नही हो सकी। ज्यो-ज्यो महीने गुजरते गये, त्यो-त्यो लोगो का घूरना कम होता गया, क्योकि लोग मुझे देखने के आदी हो गये थे और वह वक्त भी आ गया, जव वह वाइ-सिकल की मरम्मत करनेवाला, फल वेचनेवाला वूढा, पुलिसवाले, रोजमर्रा दिखनेवाले दूमरे लोग, मेरे गुजरने पर शायद ही कभी निगाह उठाकर मुझे देखते थे। किन्तु सैकडो पैदल चलनेवालों तथा वाइसिकल पर चढनेवाले दूसरे लोगों के लिए एक लडकी का, खास तौर से एक ऐसी विदेशी लडकी का, जो भारतीय पोशाक में हो, दिखाई देना विचित्र वात थी और वे मुझे ऊपर से नीचे तक देखते थे।

आज तो दिल्ली की सडको पर दस साल पहले की अपेक्षा कही ज्यादा युवतियाँ नज़र आती हैं। किन्तु साइकिल चलानेवाली लडकियाँ अव भी वहुत नही दीखती और अंधेरा पडने के वाद तो मुश्किल से ही दिखाई देती हैं। मुझे विश्वास है कि वहुत-से लोग मुझे दुश्चरित्र ममझते होंगे। मुझे याद है कि एक घृणित-सी दीखनेवाली औरत ने, जव मैं उसके पास से निकली, तव मेरी साइकिल के आगे थूक दिया था।

शायद यह भी एक कारण है कि, भारत में नर्स के धंधे को, पूरी तरह से, अव भी आदर की दृष्टि से नही देखा जाता। नर्सें, विशेषतया जन-स्वास्थ्य से सम्वन्धित नर्सें, अक्सर अकेली ही साइकिलो से लोगों के घर जाती हैं और रास्ते पर चलनेवालो की वे फब्तियो का शिकार बनती हैं। यह देखकर वहुत-से पुराने विचार के लोगो की यह धारणा है कि आमतौर से नर्सें दुश्चरित्र होती हैं। इसलिए अगर नर्सिंग की

अपेक्षा ज्यादातर महिलाएँ डाक्टरी का पेशा अपनाती हैं, क्योंकि इस पेशे की इज्जत है, तो इसमें क्या ताज्जुब !

फिर भी साइकिल चलाने की अच्छाइयाँ, उस घूरनेवाली बुराई से— जिसे मैं बेहद नापसन्द करती थी, कहीं बढ़कर थीं। सबसे बढ़कर तो वह आजादी की भावना थी कि चाहे जहाँ जाना हो मुझे यह आसरा देखने की जरूरत नहीं थी कि कोई मुझे वहाँ ले जाये। बाइसिकल अपनी थी, दिन का चार अपना था। मैं अपनी मर्जी के मुताबिक आ-जा सकती थी।

साथ ही, जब कभी मैं साइकिल पर सवार होकर जाती थी, मैं अपने को भारतीय सड़कों के मन्दगामी जीवन का एक अंग महसूस करती थी, न कि उससे पृथक् जैसा कि मुझे कार में बैठकर लगता था। मैं सब प्रकार के लोगों, वस्तुओं और घटनाओं को देखती थी। उस गर्मी में जिस समय पहिला पानी पड़ा, मैं अस्पताल से घर लौट रही थी। जब तक घर पहुँचूँ-पहुँचूँ तब तक मैं बुरी तरह भीग गयी थी। वह भीगना कितना अच्छा लगा था। कई महीनों के बाद पहिली बार बरसात हुई थी। मैं तथा हर चीज गरमी से परेशान हो चुकी थी। यह बात अजीब चाहे लगती हो किन्तु उस दिन बरसात से बचने के लिए भाग-दौड़ बहुत ही कम साइकिल-वालों ने की।

एक दिन, जिस समय मैं साइकिल पर सवार होकर अस्पताल से घर लौट रही थी, मैंने पीछे से किसी के पुकारने की आवाज सुनी, "बहन जी !" मैं रुक गयी और एक सुन्दर सा [illegible] युवती [illegible] लहँगा पहने मेरे पास आकर [illegible] मुझसे पूछा कि मैं कहाँ जा रही हूँ। [illegible]

[illegible]

रही थी। हर गाड़ी हँसते और गाते हुए ग्रामीणजनो से भरी हुई थी। औरते खूब चमकीले केसरिया, लाल और पीले रग की साडियाँ पहने हुए थी, जिसे खीच कर उन्होने अपने सिर ढँक लिये थे। मर्द कुछ गम्भीर ढग के सफेद कपडे पहने हुए थे।

सडक के किनारे छोटी छोटी, जल्दी में तैयार की गयी, किन्तु खूब सजी-धजी दुकानें लगी हुई थी, जिनमें मिठाई, फल, आइस्क्रीम और चाट आने-जानेवालो का मन ललचाने के लिए खूब आकर्षक ढग से रखी हुई थी। बहुत-सी दुकानो पर खिलौनो और देवी-देवताओ की मिट्टी की बनी रगीन मूर्तियो के ढेर लगे हुए थे। खोन्चेवाले, मेले की भीड मे आवाजें लगा-लगा कर अपना सामान बेच रहे थे।

एक लाउड स्पीकर पर नवीनतम लोकप्रिय गाने बज रहे थे, जिसके मुकाबिले में चक्करदार झूले का सगीत फीका पड रहा था। बच्चे नगे पैर दुकानो के बीच इधर-उधर एक-दूसरे का पीछा कर रहे थे या चुपचाप खडे भुट्टे चबा रहे थे या शान्ति से अपने बडे भाई-बहनों के साथ हिंडोले में बैठे हुए थे।

आखिर मे जब मैं अस्पताल पहुँची तब मैने बच्चो से मेले का जिक्र किया। वे अपने वार्ड से लाउड स्पीकर की आवाज सुन रहे थे। अगर वे बीमार न होते तो जो आनन्द वे मेले में लेते, उसकी बाते उन्होने बडी लालसा से की।

अक्सर अस्पताल आते-जाते मैं आँधी में फँस जाया करती थी। मई और जून के शुष्क और गर्म दिनो में ये आँधियाँ प्राय आया करती थी और जिस तेजी से आती थी उसी तेजी से निकल जाती थी। किन्तु जितनी देर आँधी चलती थी उतनी देर वह कोई मामूली चीज नही होती थी। साधारणतया आँधी के साथ इतनी तेज हवा चलती थी कि मेरे लिए साइकिल चलाना बहुत कठिन हो जाता था। ज्यादातर मैं हार मानकर उतर जाया करती थी किन्तु कभी कभी सिर्फ आनन्द लेने के लिए जिद पर चढ़ जाया करती थी [illegible] चुन्नी ने टेक कर साइकिल चलाये जाती थी।

एक-दो मामलो में मेरी चुन्नी मेरे लिए परेशानी का कारण भी बनी। आम तौर से मैं उसे इस प्रकार ओढ़ती थी कि वह मेरी पीठ पर दोनों तरफ लटकती रहती थी। मुझे यह खयाल ही नही आया कि वह इतनी लम्बी भी होती है

कि कभी साइकिल के पहिये में फँस जाय। एक दिन यही हुआ। न जाने कैसे वह ज़जीर के पुर्जे मे फँसती चली गयी। मुझे पता था कि किसी लडकी का आम रास्ते पर बगैर चुन्नी के निकलना बहुत ही अनुचित माना जाता है। इसलिए बडी घबडाहट से मैं साइकिल को उठाकर सडक के एक किनारे ले गयी और अपनी चुन्नी को जो तेल से तर हो गयी थी और बुरी तरह फट गयी थी, ज़जीर से छुडाने की कोशिश करने लगी। मै उस नौजवान की बहुत कृतज्ञ हूँ जिसने आकर चुन्नी को छुडाया।

इस बात से मुझे हमेशा विस्मय होता था कि एक बाइसिकल आखिर कितना ज्यादा बोझा ढो सकती थी। कई परिवारो में सवारी का एकमात्र साधन पिता की साइकिल होती थी। रविवार को या और किसी छुट्टी के दिन बीसियो साइकिलें ज़्यादा-से-ज़्यादा सवारियो से लदी हुई निकलती थी। पिता सीट पर बैठता, हैण्डिल मे टँगी हुई टोकरी में एक छोटा बच्चा होता, माँ पीछे कैरियर पर और एक बच्चा उसकी गोद मे होता। एक बार मैंने एक ही साइकिल पर माता-पिता और तीन बच्चो को बैठे हुए देखा। तीसरा बच्चा सीट के आगेवाले डडे पर बैठा था।

गाँवो से आनेवाले दूधवाले दूध के बडे-बडे दो हण्डे साइकिल पर लादकर लाते थे। फल और सब्जी बेचनेवाले, साइकिल के दोनो ओर भारी-भारी टोकरियाँ लटकाकर लाते थे। मोढे बेचनेवालो के चेहरे मुश्किल से ही दिखाई देते थे। उनकी साइकिलो पर ये मोढे विचित्र ढग से एक के ऊपर एक इस तरह रखे होते थे कि फेरीवाले उनके पीछे करीब-करीब छिप जाते थे। ज़रा सावधानी के साथ तो लोग अपनी चारपाई भी साइकिल के पीछे बाँध कर ले जाते थे।

यद्यपि मैं रोज़ाना अस्पताल आती और जाती थी फिर भी साइकिल की सवारी से मेरा मन कभी नही ऊबा। हमेशा नयी-नयी चीज़े देखने को मिलती थी, नये-नये लोगो से मिलना होता था और नयी-नयी बाते सीखने को मिलती थी। इस शौक की मुझे एक ही कीमत चुकानी पडती थी और वह थी लोगों का मुझे घूरना, जिससे मुझे बहुत परेशानी होती थी।

नौ

दिल्ली में सप्ताहान्त

जब मैं स्कूल में थी तब वहाँ दिल्ली के सप्ताहान्त के बारे मे लगभग उसी प्रकार की भावना थी जैसी अमरीका में। सोम, मगल, बुध, गुरुवार और शुक्रवार व्यस्तता के दिन होते थे। बच्चे स्कूल जाते, पुरुष अपने काम पर; दुकानें खुली रहती और उनपर खूब चहल-पहल रहती। बाजारो में भीड-भाड और शोरगुल रहता और उद्यान शाम के समय को छोड कर निर्जन रहते।

शनिवार आता और चहल-पहल घट जाती। बच्चे घर पर रहते। अधिकाश लोग सिर्फ सवेरे काम पर जाते। बहुत-सी दुकानें तीसरे पहर बन्द हो जाती और ठडक होते ही उद्यान लोगो से भर जाते। रविवार के दिन सब काम-काज बन्द हो जाता। सारा परिवार मिल कर बैठता। पिकनिके होती, लोग मिलने जुलने जाते, पार्टियाँ करते या दोपहर को किसी उद्यान में नीम के बडे-से वृक्ष के तले छाया में बैठ कर या चारपाई पर सो कर बिताते। बाजार में अवसर चहल-पहल रहती। शुक्रवार मुसलमानो के लिए अवकाश और इबादत का दिन होता है, किन्तु अधिकाश नगर में उनके प्रति रविवार जैसी भावना रहती।

यद्यपि मैं अस्पताल में प्रतिदिन काम करती थी, शनिवार और रविवार को भी उसी तरह जिस तरह कि सप्ताह के और दिन। फिर भी सप्ताहान्त मेरे लिए भी कुछ और तरह का होता था। शनिवार को सुबह मैं अपने घर के निकट के एक दवाखाने में काम करती थी।

यह दवाखाना दिल्ली के अमरीकी महिला-क्लब की सहायता से भारतीय महिलाओं के एक दल द्वारा चलाया जाता था। नयी दिल्ली और पुरानी दिल्ली में ऐसे और भी दवाखाने थे। नगर के अन्य चिकित्सालयों को जो अधिकतर प्रसूतिगृह और बाल-कल्याण केन्द्र थे, सरकार चलाती थी। जिस दवाखाने में मैं काम करती थी, वहाँ आनेवालों में प्रमुख रूप से महिलाएँ

और बच्चे होते थे, जो अधिकाश पडोस मे ही रहते थे।

वहाँ एक डाक्टर था, दो महिलाएँ थी, जो नुस्खो के मुताबिक दवाइयाँ देती थी और दो औरते परिचर्या-कक्ष में काम करती थी। ये सब स्वयसेवक और स्वयसेविकाएँ थी। दवाइयाँ क्लब ख़रीद कर देता था और बच्चो के लिए दूध का चूर्ण यू एन. आई. सी ई एफ से भेट के रूप मे मिलता था।

जब कोई रोगी पहली बार दवाख़ाने मे आता तब उससे दो आने लिये जाते थे, बीमारी उसे चाहे कुछ भी हो। इससे दवाख़ाने के ख़र्च में कुछ मदद तो मिलती ही थी, लेकिन मेरे ख़याल से इसके अलावा दुअन्नी देने से रोगी के मन में यह भाव उत्पन्न नही होता था कि उसे दवा यूँही थमा दी गयी है। उल्टे इससे उसके मन मे यह भाव जगता था कि उससे आशा की जाती थी कि वह अपनी तन्दुरुस्ती को अपनी खुद की जिम्मेवारी के रूप मे स्वीकार करे।

डाक्टर उस छोटी-सी इमारत के बरामदे में मेज़ लगा कर बैठता था। रोगी पहले उसके पास आकर अपनी शिकायत बताता। डाक्टर निदान करके लिखता था कि रोगी को किस दवा या चिकित्सा की ज़रूरत है और उसे उस दिन फिर आने को कहता जिस दिन दवाखाना खुलता था; क्योकि दवाखाना हफ्ते में तीन दिन खुलता था।

यदि रोगी को दवा की जरूरत होती थी, तो वह डाक्टर के पास से, उस खिडकी पर जाता था, जहाँ दवा दी जाती थी। यहाँ वह स्वयसेविका को अपना नुस्खा और एक शीशी सौप देता था। शीशी मे उसे दवा मिल जाती थी और साथ ही दवा के उपयोग की विधि उसे अच्छी तरह समझा दी जाती थी। अगर उसे कोई घाव, फोडा, किसी प्रकार का पकाव या गले की सूजन, आँख की पीडा या जलने की शिकायत होती तो वह दवा की खिडकी से परिचर्या-कक्ष में जाता था, जहाँ उसकी चिकित्सा की जाती थी।

मुझे परिचर्या-कक्ष में काम करने में आनन्द आता था, जहाँ मैं रोगियो से जान-पहचान कर सकती थी, उनकी वास्तविक देखभाल कर सकती थी और रोग-निवारण मे उनकी सहायता कर सकती थी। कुछ ही समय में मैं आँखो में दवा डालने, गले में दवा लगाने और पट्टी बाँधने में कुशल हो गयी।

फिर भी गले मे दवा लगाने का काम मुझे रुचिकर नही था। शुरू-शुरू मे

एक बार मुझे जब यह काम करना पड़ा, तब मैंने फुरेरी पर रुई काफी कस कर नहीं लपेटी थी। नतीजा यह हुआ कि रुई और दवा दोनो ही बेचारी बच्ची के पेट जा पहुँची। मैं बुरी तरह घबडा गयी और मुझे उस नन्ही लडकी के लिए अफसोस हुआ। उसका गला बन्द हो गया और उसने तुरन्त एक गिलास पानी पीना भी स्वीकार कर लिया। खुशी की बात थी कि वहाँ के लोग सहानुभूति-पूर्ण थे और वह लडकी जल्दी ही ठीक हो गयी। किन्तु मुझे विश्वास था कि पेट की किसी गम्भीर खराबी की शिकायत लेकर वह कुछ ही दिनो मे फिर आयेगी। सौभाग्य से वह वापस आयी नही।

प्राय मैं औषध विभाग मे काम करती थी, जहाँ मैं शीघ्र ही गोलियो के डिब्बो और शीशियो से—जो खानो में पंक्तिबद्ध रखी रहती थी तथा तरल दवा की उन बडी बोतलो से, जो हमारे काम करने की मेज़ के अधिकाश भाग को घेरे रहती थी—परिचित हो गयी। एक दवा हम अक्सर दिया करते थे, वह लाल रग की पिपरमिन्ट जैसी थी, जिसका नाम डाक्टर ने गुप्त रूप से 'मनोवैज्ञानिक' दवा रख छोडा था।

उस छोटे से दवाखाने मे हम साधारणतया एक वक्त में कम-से-कम ५० रोगियो की परिचर्या करते थे। अक्सर यह सख्या अधिक रहती थी। यह दवाखाना अस्पताल से इस दृष्टि से भिन्न था कि मै चिकित्सा के मामले में रोगी की सीधी मदद कर सकती थी। मेरे खयाल मे शनिवार की सुबह बिताने का यह बहुत ही आनन्ददायक तरीका था।

शनिवार को तीसरे पहर मैं सदा की भांति अस्पताल मे काम करती थी। परन्तु दवाखाने और अस्पताल जाने के बीच मे इतना समय रहता था कि मैं अपने मित्रो के साथ भोजन कर सकती थी या बाद मे सैर-सपाटे, सिनेमा देखने या शाम को किसी मित्र के घर जा सकती थी। फिर भी अक्सर मैं यह समय घर पर ही पढ़ने-लिखने या घर के कामो मे बिताती थी।

मेरा कमरा छोटा था और घर के उस भाग मे था, जिधर सड़क थी। मैं [illegible] पर खुली खिड़की के सामने बैठती थी जहाँ [illegible] तथा [illegible] की आवाजे सुनाई देती थी—जो मेरे काम के लिए पृष्ठभूमि तैयार [illegible]। [illegible] की घण्टियो की मधुर टनटन, [illegible] की [illegible], [illegible] बच्चो की [illegible]

बातें, एक आदमी का दूसरे आदमी को चीख कर पुकारना, गुजरते हुए साइकिल-वालो के गीत या सीटी, सपरे की बीन का करुण-स्वर, हारमोनिका के आह्लाद-दायक स्वर, चिडियो की चहचहाहट, कुत्तो का भौंकना और रात के वक्त हमारे घर के पीछे के उद्यान मे गीदडो की डरावनी आवाजें तथा दूसरे प्रकार की बहुतेरी आवाज़ सुनाई देती थी, जिन्हे मैं पहचानती थी और जो मुझे बहुत प्रिय थी ।

रविवार का दिन बहुत व्यस्तता का होता था । सवेरे तडके हम कभी-कभी पक्षियो के निरीक्षण को निकल जाते थे, तो दोपहर के या अपराह्न के भोजन के लिए हम पिकनिक पर जाते थे, और तीसरे पहर भी कुछ-न-कुछ होता ही था। एक बार खेलकूद हुए कभी चुनाव की मीटिंग हुई, तो कभी सिनेमा देखा। दिल्ली-प्रवास के शुरू के महीने दर्शनीय स्थानो को देखने मे बीते थे ।

चूंकि मुझे अपने देश मे ही तरह-तरह की चिडियो को पहचानने का शौक़ था, इसलिए दिल्ली मे पक्षियो के निरीक्षण के अभियानो मे मुझे बडा मजा आता था । हम एक दल बनाकर जाया करते थे, जिसमे दिल्ली मे रहनेवाले कई अग्रेज़, अमरीकी और भारतीय शामिल रहते थे । हम प्राय नगर से बाहर तालाब या नदी के निकट किसी निर्जन स्थान पर जाते थे या फिर जगल मे ।

पहिले रविवार को हम जमुना नदी के किनारे एक सुरम्य स्थान पर गये, जो लम्बे-लम्बे गन्नो के खेत के समीप था । वक्त तडके का था । आसमान साफ था, हरियाली खूब थी । वहाँ अनेक पक्षी थे—जल और थल दोनो के । हमने वहाँ आमतौर से मिलनेवाले पक्षी देखे—जैसे मैना, बडा-सा काला बदशक्ल कौव्वा, ऊँची उडनेवाली धूर्त और नीच मनोवृत्ति की चील । इनके अलावा लम्बी पूँछ का भूरे और सफेद रगवाला नीलकण्ठ, मटियाले रग का घमण्डी तीतर, बुलबुल की जाति के अनेक पक्षी, श्याम श्वेत दहगल, अनेक रगोवाली चिडिया, काले सिर और पीले रग का सुन्दर हरदुआ, चटकीले नीले और नारगी रग की रामचिरैया, कलगीवाला हुदहुद और शोर करनेवाले सुग्गे ।

एक और दिन हम पुल से जमुना नदी पार करके उस स्थान पर गये, जो नगर की दूसरी दिशा में था । पुल पर यातायात ठप हो गया था । स्टेब और मुझे पुल पार करने की बारी आने की प्रतीक्षा में आधा घण्टा ठहरना पडा । उस दर्मियान हम यह देखते रहे कि भारतीय सडको पर चलनेवाली असख्य

सवारियाँ इस अस्तव्यस्तता से कैसे बच कर निकलती हैं। वहाँ पैदल चलनेवाले लोग, सैकड़ो साइकिलें, घोड़ो के तागे, बैलगाडियाँ, हाथ के ठेले—जिनमें अक्सर कोयला लदा होता था, मोटरें, लारियाँ जिनमे कुछ खाली थी, जो दिल्ली से पंजाब जा रही थी और कुछ माल से लदी हुई दिल्ली आ रही थी; बसें, भेड़ो के रेवड़, भैंसे, बकरियाँ और मवेशी, यहाँ तक कि ऊँटो की कतार भी थी, जो देश के इस भाग में यदा-कदा ही दिखाई देती थी।

पुल के नीचे, नदी के तट पर, धोबी शहरवालो के कपड़े धो रहे थे। नदी के किनारे की घास—तुरन्त के धोये हुए कपड़ो से जो धूप में सूख रहे थे, ढँकी हुई थी।

धोबी का काम मशक्कत का और थका देने वाला होता है। हर धोबी का एक-एक सँकरा पत्थर का पाट था जो आधा पानी में डूबा हुआ था। उस पर वह कपड़े पछाड़ता था। धोने वाले वस्त्र को सिर से भी ऊँचा उठा कर वह बार-बार पत्थर पर पटकता था।

उस दिन पक्षियो का निरीक्षण मुझे उतना रोचक नही लगा, जितनी की यमुना पुलवाली धक्का-पेल, क्योकि चिड़ियो के बारे में मुझे उस दिन की एक भी चीज याद नही है।

अक्सर दोपहर या तीसरे पहर के भोजन के लिए मेरा परिवार या मेरे मित्र पिकनिक पर जाते थे। ठीक हमारे मकान के पीछे ही लोदी पार्क था, जो पिकनिक के लिए सबसे नजदीक जगह थी और हम अक्सर वहाँ जाया करते थे। मुझे यहाँ की ठंडक, छायादार हरियाली और शांति पसन्द थी। पार्क के दरवाजे दिन और रात खुले रहते थे और लगभग हमेशा ही वहाँ लोग बने रहते थे। यहाँ परिवार सैर करते होते, तो कहीं पिता अपने पुत्र-पुत्रियो के साथ खेलते दिखाई [illegible] घास पर बैठी बातें करती रहतीं तो विद्यार्थी पढ़ते या विश्राम करते रहते। कोई श्रमिक मध्याह्न की निद्रा ले रहा होता, बच्चे खेलते होते।

मुझे एक रविवार की याद है जब हम साइकिल से हौज खास गये थे, जो [illegible] जैसा ही पिकनिक का एक और स्थान था और शहर से बाहर [illegible] था। यह स्थान बड़ा रमणीक था—दूब और छायादार [illegible]। [illegible] के सैर सपाटे के लिए आये हुए लोगो से भरा हुआ। कई परिवार— [illegible] दादा, माँ, पिता, चाचियाँ, मामा और अनेक बच्चे—पेड़ो की छाया

में बिछाये हुए कम्बलो पर बठे थे। बडे लडके वालीबाल खेल रहे थे। विद्यार्थियो के दल बैठ कर गपशप कर रहे थे या रेडियो बजा रहे थे। कोई अपना हारमोनियम लाया था और एक व्यक्ति अपना सितार। वहाँ का वातावरण प्रसन्नता और मस्ती का था।

रात के समय हौज़ कौज़ और भी ज्यादा खूबसूरत लगता था। कभी-कभी रविवार की रात को हम वहाँ पिकनिक करते थे। उस समय वह स्थान बिलकुल शान्त निर्जन होता था, जिसे श्वेत चाँदनी आलोकित करती थी।

लगभग हर रविवार की अपराह्न को ऐसी बात हो जाती थी जिससे मैं अस्पताल जाने के पहले या बाद में बहुत व्यस्त हो जाती थी। एक दिन हमने भारतीय टीम और जापान की टीम का हॉकी मैच देखा। भारतीय टीम बहुत अच्छी थी और बडी फुर्ती तथा कौशल से खेलती थी। हम चिल्ला-चिल्ला कर उसे बढावा देते रहे और वह जीती भी।

एक दिन मैं गर्ल गाइड के समारोह मे सम्मिलित हुई, जो मिस क्रो के सम्मान मे मनाया गया था। मिस क्रो अमरीका की थी और 'स्काउट वर्ल्ड फेलोशिप' की ओर से विश्व के कई भागो का दौरा कर रही थी। मैने अपनी नीली 'मैरिनर' की वर्दी पहनी थी। भारतीय लडकियाँ भारत के स्काउटो की वर्दी मे थी—सफेद सलवार, कमीज़ और नीला दुपट्टा।

१९५२ की जनवरी में भारत मे प्रथम राष्ट्रीय चुनाव हुए। दिल्ली में जुलूस और सार्वजनिक सभाएँ रोज़मर्रा की बाते हो गयी और इश्तिहार तथा पोस्टरो द्वारा विभिन्न दलो और उम्मीदवारो का प्रचार जोरो-शोरो से हुआ। महीने के मध्य मे एक रविवार का स्टेव और मैं पुरानी दिल्ली में कांग्रेस दल की ओर से आयोजित चुनाव-सभा मे गये। जब हम वहाँ पहुँचे तब तक नेहरूजी, जो भाषण करनेवाले थे, आये नही थे। पार्क मे हज़ारो लोगो की भीड जमा थी जिसमें स्त्री-पुरुष, बच्चे सभी थे। खोन्चेवाले खाने की बढिया-बढिया चीज़े बेच रहे थे। हम भी भीड मे मिल कर मच के जितना भी सम्भव हो सका उतना निकट पहुँच गये।

प्रत्याशित समय के लगभग ही नेहरूजी की मोटर आ पहुँची। भीड में एक लहर दौड गयी। परन्तु तालियो की गडगडाहट या खुशी के ज़ोरदार नारे नहीं लगे। लोगो ने एक महान् व्यक्ति के आगमन का केवल मूकभाव से सम्मान

किया। नेहरूजी हिन्दुस्तानी में बोले, धीरे-धीरे और बिलकुल स्पष्ट। दुर्भाग्य से, उस समय तक हम उस भाषा को इतना नही सीख पाये थे कि जो उन्होंने कहा, वह सब समझ लेते।

चूँकि मैं नेहरूजी के भाषण को समझ नही पा रही थी, इसलिए भीड के लोगो ने और भीड के व्यवहार ने मुझे ज्यादा आकर्षित किया। जो व्यक्ति जमा थे वे विभिन्न सामाजिक और आर्थिक वर्गों, विभिन्न धर्मों और सच पूछा जाय तो विभिन्न जातियो के थे।

नेहरूजी या पंडितजी के प्रति जैसा कि आमतौर से लोग उन्हे पुकारते हैं, उन सबकी समान-भावना ने उन्हे एक कर दिया था। मैंने अनुभव किया कि नगर की जनता जाति-पांति को अधिक महत्व नही देती।

दवाखाने और अस्पताल के काम, सैर-सपाटे, खेल कूद के मैच, मित्रो से मिलना-जुलना—व्यस्तता के इतने सामान होते हुए भी दिल्ली मे खाली बैठ कर सप्ताहान्त बिताना मेरे लिए बहुत मुश्किल था। स्कूल के दिनों में मैं जरूर उन दिनों की उसी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा करती थी जैसी आज ओबर्लिन कालेज में करती हूँ।

दस

गाँव में एक सप्ताह

नर्सिंग के प्रति मेरी दिलचस्पी ने मुझमें यह जानने की उत्सुकता जाग्रत कर दी कि गांवों में नर्सिंग और जन-स्वास्थ्य का कैसा कार्य होता है। इसी उत्सुकता के कारण मैंने नर्सिंग कालेज से [illegible] किया कि [illegible] में [illegible] सप्ताह [illegible] गांव में [illegible] जो दिल्ली से २० मील पश्चिम की ओर है, [illegible] मैंने सुन रखा था कि [illegible] की एजेन्साएँ इस गांव में [illegible] नहीं हैं। [illegible] हुई।

[illegible]

कुमारी क्रेग ने, जो कालेज से मेरी सहेली थी, घूम-फिर कर मुझे नर्सों के रहने के अहाते को दिखाया। गाँव के सिरे पर एक या दो कमरेवाले छोटे-छोटे चार पूर्व-निर्मित मकान बने हुए थे—जिसमे से एक पकाने, खाने और मनोरजन के लिए, एक कर्मचारियो के लिए और दो छात्राओ के लिए।

उस समय गाँव में आठ नर्सें थी—छ छात्राएँ, एक ग्रेजुएट जो गाँव के आहार-तत्व सम्बन्धी शोधकार्य कर रही थी, और एक युवती सुपरवाइजर। गाँव का स्वास्थ्य सम्बन्धी यह कार्य छात्राओ के नर्सिंग के प्रशिक्षण का ही एक भाग था।

उनमें से अधिकाश उत्तर भारत से आयी थी—पजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश या बिहार से और दो बगाल से और एक लका से। इन लडकियो के साथ, जो भारत के विभिन्न भागो की प्रतिनिधि थी, एक प्रकार का वैसा ही नया और उपयोगी अनुभव हुआ, जैसा कि गाँव में रहने और काम करने का हुआ था।

लडकियो के गाँव से लौटने पर हमने दही की लस्सी पी। यह पेय बडा अच्छा, शीतल और सस्ता होता है। मुझे मालूम हुआ कि गाँववाले यह पेय बहुत पीते हैं। थोडी देर बाद हमने भारतीय ढग से भोजन किया—चावल, चपाती और साग। लडकियो ने अपनी उँगलियो से बडी होशियारी से उसी ढग से भोजन किया, जो मैंने सुमन के यहाँ और सेवाग्राम मे सीखा था।

भोजन के बाद चार बजे तक, यानी जब गर्मी ज्यादा-से-ज्यादा थी, लडकियो ने आराम किया या वे सोयी जैसा कि भारत में गर्मी के दिनो मे अधिकतर लोग करते हैं। तीसरे पहर के बाद हमने चाय और दूध लिया और तब से अँधेरा पडने तक लडकियो ने गाँव में काम किया या अहाते मे ठहर कर स्वास्थ्य-सम्बन्धी पोस्टर तैयार किये अथवा रिपोर्ट लिखी।

चावल्ला में अपने आवास के पहिले दिन मैं तीसरे पहर के बाद दो छात्राओं के साथ गाँव में गयी। गाँव के लोग नर्स को पहिचानते थे और जब हम लोग उधर से गुजरे तब उन्होंने बडे प्रेम से नमस्ते की और बहुतो ने हमें थोडी देर बैठने और बातचीत करने के लिए आमंत्रित किया।

सब से पहले हम जिस बच्चे को देखने गये उसे बुखार था और उसकी हालत गम्भीर थी। वह बच्ची सिर्फ चार दिन की थी और जैसा कि प्राय.

होता है कि लडकी होने के नाते अनचहेती भी थी। रिवाज के अनुसार उसकी शादी के समय उसके पिता को दहेज जुटाना पडता। वैसे ही पैसे की उसके पास कमी थी। बच्ची को न तो उचित खुराक मिल रही थी, न उसकी उचित देख-भाल हो रही थी। नर्सों ने उसे स्नान कराया और थोडा-सा पानी पिलाया, इससे ज्यादा वे कुछ कर नही सकती थी। उन्होने उसकी माँ से उसकी ठीक देख-रेख करने और उसे अधिक बार दूध पिलाने के लिए समझाया। बच्ची बीमार थी और कमज़ोर भी। सम्भावना यह थी कि अगर मां ने नर्सों की सलाह के अनुसार आचरण न किया तो वह मर जायगी।

दूसरा मामला एक छोटे लडके का था जिसे मोतीझरा हो गया था। भारत में यह बीमारी आम है, जो प्राय भोजन, पानी और दूध के दूषित होने से होती है। गाँव में एक और व्यक्ति इस रोग से पीडित था।

वह लडका एक छोटे-से घर की अन्धेरी कोठरी मे एक चारपाई पर सो रहा था। उसकी छोटी बहन उसके पास बैठी पखा झल रही थी। नर्सों की देख-रेख में उसकी अच्छी देखभाल हो रही थी और उसे अच्छी दवाई व चिकित्सा मिल रही थी। अन्यथा नर्सों के आने से पहले गाँव में जैसे और कई लोग मर गये, वैसे ही वह भी शायद मर गया होता।

मैं सोचने लगी कि इस प्रकार की छुआछूत की बीमारीवाले रोगियो को सबसे अलग कैसे रखा जाता है? मुझे मालूम हुआ कि अनेक हिन्दुओ का आज भी ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार की खतरनाक बीमारियाँ—खास तौर से चेचक, देवी के कोप के कारण होती हैं। बहुत-से मामले में यह खयाल किया जाता है कि रोगी को भूत-पिशाच लगा हुआ है, और लोग प्राय उसके नज़दीक आने से कतराते हैं।

इन रोगियो को देखने के बाद हम जहाँ-तहाँ कुछ औरतो से बाते करने को ठहरते हुए गाँव में घूमे। कई औरतें सूत कात रही थी, कुछ बच्चो की देख-रेख कर रही थी। सबकी-सब थी बडी मिलनसार और जिस हद तक उन्होने नर्सों को अपनाया था, वह भी एक आश्चर्य की बात थी।

नर्सें बाहर की थी, गाँववालो के लिए अजनबी। गाँव की औरतो के लाम घेरदार घाघरो के बदले वे सफेद-बुर्राक साडियाँ पहनती थी। गाँव के मर्दों के सामने उनका आचरण "निर्लज्जता" का होता था, क्योकि वे न तो

घूँघट निकालती थी, न सर ढँकती थी। और तो और उनमें से अधिकाश अविवाहित थी, फिर भी पुरुषो की नज़रो से बचकर रहने की कोशिश नही करती थी। उनमें से बहुतो को गाँव की बोली बहुत कम आती थी और आपस मे वे जिस भाषा में बाते करती थी, वह गाँववालो की समझ में नही आती थी।

इसके अलावा ये नर्से गाँव के लोगो को ऐसा काम करने की सलाह देती थी—जो गाँव के इतिहास मे पहले कभी किये नही गये थे, और ऐसे-ऐसे काम करने से मना करती थी, जिन्हे वे और उनके पुरखे सदियो से करते चले आ रहे थे। उदाहरण के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को हमेशा से मालूम था कि बच्चे को एक महीने का होने से पहले पानी पिलाने से उसका पेट फूल जाता है और जरा सोचिये कि घाव पर ठडी पट्टी के बजाय किसी बदबूदार पीले पदार्थ में भीगा हुआ सफेद कपडा रखा जावे! और भी देखिये, कुछ लोगो का कहना था कि यदि बच्चे को धातु की उस विचित्र वस्तु मे, जिसे नर्से तराजू कहती हैं, रखा गया तो उसके ऐंठन होने लगेगी और वह मर जायगा।

जब नर्से पहले-पहल गाँव मे आयी तो उन्हे ऐसी और इसी प्रकार की कई दूसरी धारणाओ का सामना करना पडा। ऐसे अन्धविश्वासो को अभी पूर्णतया समाप्त नही किया जा सका है, किन्तु उनका प्रभाव धीरे-धीरे घट रहा है।

गाँव की गलियो से गुजरती हुई नर्से उन औरतो से, जो अपने घरो के दरवाजे पर बैठी थी, हँसती-बोलती जाती थी। वे उनके पहनावे व बच्चो की बडाई करती जाती थी। यदि किसी औरत को कुछ तकलीफ होती और वह नर्सों से उसकी चर्चा करती तो वे धैर्यपूर्वक उसकी बात सुनती और सहानुभूति-पूर्वक उत्तर देती थी।

इस तरीके से उन्होने पहले गाँववालो का विश्वास प्राप्त किया। तब किसी साहसी औरत ने अपने बच्चे को पानी पिलाया होगा और देखा होगा कि उसका पेट फूला अथवा नहीं, या उसने बड़ी सावधानी से अपने बच्चे को तराजू पर ध्यान दिया होगा कि उसे किसी प्रकार की ऐंठन नही हुई, और जब नर्से उसे तोलने एक महीने बाद फिर आयी होगी, तो उसकी मा ने अपनी आँखो से देखा होगा कि उसके बच्चे का वजन बढ गया था।

नर्सों का काम कठिन और प्राय उत्साह-भग करनेवाला था। परन्तु दैनिक सफलताओ ने—चाहे वे छोटी-मोटी ही थी—उन्हे अपना काम करते जाने की हिम्मत दिलाई।

चावला करीब १५०० लोगो का गाँव है, जो एक छोटे-से क्षेत्र में बसा हुआ है। यह गाँव भारत के अधिकाश गाँवो से बडा है। औसत गाँव ७०० की आबादी का होता है। आमतौर से घर गारे में भूसा मिला कर बनाये जाते हैं और मिट्टी से लीपे जाते हैं। ये घर एक दूसरे से सटे हुए होते हैं। किन्ही-किन्ही अधिक सम्पन्न लोगो के मकान लकडी और ईट के पक्के बने हुए होते है। औसत घर छोटा होता है जिसमें दो या तीन बचकानी अँधेरी कोठरियाँ और एक खुला सहन होता है। घर के सारे काम इस सहन मे होते हैं। परिवार के अनेक सदस्य सहन में ही खाते, काम करते और सोते हैं, और कई बार गाय या भैस भी वही बँधती है। एक कोने में चूल्हा रहता है। प्राय एक या दो चारपाइयाँ पडी रहती हैं, जिन पर औरते काम से निबट कर आराम कर सकती हैं, बैठ कर बातें कर सकती हैं। वही शाम को पुरुषो की बैठक जमती है और हुक्का पीते हुए, वे अपने गाँव, अपने देश और कभी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ पर चर्चा करते हैं।

सहन के पासवाली दो या तीन छोटी-छोटी कोठरियो में खेती-बाडी का सामान, पशुओ का चारा और परिवार की चीज़ें रखी जाती हैं। खिडकियाँ कही-कही ही होती हैं और कोठरियो में अँधेरा रहता है। घर आमतौर पर बहुत साफ रहते हैं। मिट्टी के कडे फर्श पर प्रतिदिन झाड़ू लगायी जाती है और पकाने-खाने के पीतल के बर्तन प्राय खूब चमका कर रखे जाते हैं।

लेकिन गाँववालो की सफाई की भावना उनके घर के दरवाज़े से आगे शायद ही कभी बढती है। वे अपने सहन के फर्श पर थूकना गवारा नहीं करते, किन्तु बडी सावधानी से दरवाज़े तक जा कर गली में थूक आते हैं। इसका व पूरा इन्तजाम करते हैं कि घर का गन्दा पानी बाहर निकल जाय—भले गली मे बहता रहे। ऐसे ग्रामीणो मे सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना—सामाजिक चेतना—जाग्रत करना नर्सों के लिए एक बडी समस्या थी।

भारत के अधिकाश गाँवो की तरह चावला में भी विभिन्न जातियाँ रहती है और प्रत्येक का गाव मे अपना खण्ड है। विभिन्न जातियो के लोगो का आपस

में निस्सकोच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है, परन्तु एक साथ खाने-पीने और आपस में विवाह करने पर आज भी प्रतिबन्ध है।

चावला मे पहिली सुबह को बैलो की घटियो की आवाज़ ने मुझे जगाया। उस समय बैलो को खेतो पर काम करने के लिए ले जाया जा रहा था। अभी छ बजे थे और मुझे नीद आ रही थी। मुझे मालूम हुआ कि किसान सबेरा होते ही खेतो की जुनाई में जुट जाते थे, गृहिणियाँ कुओ से पानी भरने और घर के अन्य कामो में लग गयी थी और उनके बच्चे खेलने में। गाँव के लोग सूर्योदय के साथ जाग जाते हैं और सबेरे की ठडक में काम करते हैं। वर्षा से पहले खेतो की जुताई करने का वक्त था इसलिए मर्दों तथा लडको को फुर्सत जरा भी नही थी।

हम बाहर सोये थे, जहाँ ठडक थी। मेरी सहेलियाँ उठ चुकी थीं और अपने बिस्तरे उठा रही थी या स्नान कर रही थी। गाँव में न तो बिजली थी, न पानी के नल। पानी डोलो और पीतल तथा मिट्टी के बडे-बडे घडो में भर कर हमारे अहाते में और गाँव के घरो मे गाँव के बाहर के कुओ से आता था, जो कभी-कभी तो आधे मील से भी ज्यादा दूर होते थे।

कुओ से पानी प्राय औरते लाती हैं। ढँके हुए सर पर पानी से लबालब भरा हुआ मिट्टी का घडा, उसका लहराता और सरसराता हुआ घेरदार घाघरा, खनकते हुए गहने और नाचती हुई कजरारी आँखे—भारतीय गाँव की यह नारी ऐसी लगती है जैसे किसी पुस्तक में से बाहर निकल कर आयी हो—हृष्ट-पुष्ट, प्रफुल्ल और सुन्दर। उसका टखनो के ठीक ऊपर तक पहुँचनेवाला घाघरा कमर पर खूब कसा हुआ, भरावदार और शानदार होता है जो चटकीले रग की छींट का बनता है। घाघरे के अलावा वह ढीली, लम्बी कमीज़ पहनती है और चटकीले रग की ओढनी ओढती है, जो उसके सर को और कभी-कभी उसके सारे चेहरे को ढँक लेती है।

लडकी को उसकी शादी के समय खूब सारे गहने दिये जाते हैं—चूडियाँ, बाजूबद, पायजेब, नथ, बालियाँ, बालो के आभूषण और गले के हार—जिनमें से अधिकतर भारी, सुन्दर और चादी के तथा नक्काशी के काम के होते हैं। ये गहने उसके परिवारवाले काफी खर्च करके खरीदते हैं। यही चीज ग्रामीण के उस कर्ज का मुख्य कारण है जिसका बोझ लादे हुए वह जीता और मरता है।

७ बजे तक हमने परोठा, उबले हुए मसालेदार आलू और दूध या चाय का नाश्ता किया और लड़कियाँ अपने रोज़मर्रा के काम के लिए तैयार हो गयी। वे सहन की एक इमारत में ही एक महिला डाक्टर की मदद से दवाखाना भी चलाती थी। यह डाक्टर नज़दीक के कस्बे नजफगढ से सप्ताह में एक बार आती थी। उस दिन सुबह मैं भी उनके दवाखाने गयी और चिकित्सा-विभाग के काम में मैंने उनका हाथ बँटाया।

नर्सिंग कालेज के धन से चलनेवाली यहाँ की स्वास्थ्य-सेवा चावला गाँव के प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध है। चावला के पाँच वर्ष की उम्र के अधिकाश बालको का पूरा विवरण-पत्र मौजूद था। यह विवरण यथासम्भव बालक के जन्म से ही रखा जाता है, जिस पर उसके स्वास्थ्य का पूरा ब्यौरा रहता है। घर में और दवाखाने में उसका जो भी इलाज हुआ हो, उसका और उसके माहवारी वज़न की वृद्धि का भी विवरण अकित रहता है।

जब कोई औरत गर्भवती होती है तो एक नया विवरण-पत्र शुरू किया जाता है, जिस पर मासिक परीक्षण के परिणाम लिखे जाते हैं। इन विवरण-पत्रो पर पहिले की सन्तानो के नाम और स्वास्थ्य की स्थिति या मृत्यु का कारण भी लिखा रहता है। उदाहरण के लिए—

नाम शान्तिदेवी

पहिले के बच्चे :

नाम	जाति	जन्मतिथि	स्वास्थ्य	मृत्यु का कारण	मृत्यु के समय आयु
उषा	स्त्री०	१९४४	अच्छा	—	—
रामलाल	पु०	१९४५	—	मोतीभरा	४ वर्ष
हरिराम	पु०	१९४७	—	न्यूमोनिया	६ मास
पुष्पा	स्त्री०	१९४९	ज्वर	—	—
मोहिन्दर	पु०	१९५१	अच्छा	—	—

जून ५, १९५२—२० सप्ताह की गर्भवती

निश्चय ही स्वास्थ्य-सेवा ने जन्मकाल की और बचपन की मृत्यु-संख्या को कम कर दिया है। फिर भी शिशुओं और बच्चों की मृत्यु होती है। सारे भारत में ५० प्रतिशत बच्चे १२ वर्ष के होने से पहिले और चौथाई अपने जीवन के

प्रथम वर्ष मे मर जाते हैं। एक मुश्किल यह है कि गाँववालो को उचित प्रकार का पर्याप्त भोजन उपलब्ध नही होता। उनमें से कुछ अपने बच्चो के प्रति बडी लापरवाही बर्तते हैं और सफाई की महत्ता बहुत ही कम लोग समझते हैं।

मैं नही समझती कि आमतौर से उन्हे भोजन की कमी है। विशेषत अब, जब कि गत कुछ वर्षो मे भारत के खाद्य-उत्पादन मे वृद्धि हुई है, परन्तु उनके आहार में बहुधा शाक, फल और ज्यादा प्रोटीनवाले खाद्य-पदार्थो की कमी रहती है। उनके भोजन मे धान और चर्बीले पदार्थो जैसे भारी खाद्यो की अधिकता रहती है। चावला के लोग हिन्दू हैं, और प्राय सभी कट्टर शाकाहारी, जो न तो मास खाते हैं, न अण्डे।

एक अनाज की दुकान के अतिरिक्त चावला में कोई ऐसी जगह नही है, जहाँ गाँववाले खाद्य-पदार्थ खरीद सके। साग-भाजी बेचनेवाला कभी कभी गाँव से होकर गुज़रता है। परन्तु नियमित रूप से उसके आने का कोई भरोसा नही होता। नजफगढ का कस्बा तीन मील दूर है और चावला तथा आस-पास के गाँवो के लोग प्राय वहाँ के बाजार में साग-भाजी और फल खरीदने के लिए पदल, साइकिल से या अपनी बैलगाडियो मे बैठ कर जाते हैं।

एक दिन मैं तीन नर्सो के साथ गाँववालो की तरह बाज़ार में खरीदारी करने और एक अन्य दवाखाने की मदद करने के लिए साइकिलो पर बैठ कर नजफगढ गयी। नजफगढ में इस दवाखाने के अलावा एक नया अस्पताल है, जो आस पास के २८ गाँवो की सेवा कर रहा है और भविष्य मे जिले भरकी सेवा करने के लिए उसका विस्तार कर दिया जायगा।

दवाखाने में कुछ घण्टे काम करने के बाद हम भीड-भाड वाले बाज़ार से साग और फल खरीदकर लाये। अमरीका के स्तर की तुलना मे कीमतें आश्चर्यजनक रूप से कम थी। उदाहरणार्थ—हम तीन खरबूजे पाँच आने यानी छ सेट में खरीदकर लाये। बाज़ार की दुकानो में अनेक प्रकार के साग थे—टमटर, आलू, खीरा, लौकी, भिण्डी, फलियाँ और प्याज तथा फल भी—केले, नारियल, खरबूजे, बेर, आम, आडू, लीची। खोन्चेवाले महीन की हुई बर्फ के गोले, शर्बत छिडककर बेच रहे थे। यह चीज़ बच्चो को खास तौर से पसन्द थी।

मैंने चावला में जितने दिन बिताये उनमें से अधिकाश दिन मैं किसी नर्स

के साथ गाँव के घरो के नियमित दौरे पर निकलती थी। हम उस अनचहेती छोटी लडकी को लगभग रोज़ ही देखने जाते थे। एक सप्ताह में उसकी हालत कुछ सुधरी। नर्स हैकी बहुधा बच्ची को नहलाती-धुलाती और उसे कुछ पानी और दवाई पिलाती थी। हमें पता चला कि बच्ची की माँ का मुँह उसके पति ने डेढ महीने तक नही देखा, लडकी पैदा हुई यह दोष उसी का तो था !

एक दिन हम उस परिवार के घर पहुँचे, जिसने आहार-तत्त्व सम्बन्धी खोज करनेवाली छात्रा को, अपने छोटे बच्चे का जन्म से ही साप्ताहिक वज़न लेने की अनुमति दे दी थी। यह परिवार समाज के अधिक प्रगतिशील परिवारो में से था। परिवार की औरते बहुत ही स्वस्थ और मिलनसार थी और बिना किसी हीले-हवाले के वे नर्सो की सलाह मानती थीं।

एक दिन सुबह ठडक में जब मैं गहरी नींद मे सोयी हुई थी, किसी की आवाज़ सुन कर जाग पडी। उस वक्त करीब ४॥ बजे थे और प्रकाश फूट रहा था। आवाज़ थी "मिस साहिब", "मिस साहिबा जी !" (युवा औरतों के लिए आदरसूचक शब्द।) हम सब बाहर पास-पास सोयी हुई थी, अत इस आवाज़ को औरो ने भी सुना।

"क्या हो गया ?" मैंने एक नर्स को कहते सुना। और फिर सुना—"हैकी जल्दी उठो ! लक्ष्मी का मामला है।" लक्ष्मी गर्भवती थी। हैकी और मैं पिछले दिन ही उसे देख कर आयी थी। जून के प्रथम सप्ताह में उसके बच्चा होने वाला था। उसी का एक सम्बन्धी हमें बताने आया था कि लक्ष्मी के बच्चा हो रहा है। हैकी और सुपरवाइज़र नर्स तुरन्त ही चल पडी।

थोडी देर बाद वे लौटी। लक्ष्मी के पौने दस बजे एक हृष्ट-पुष्ट लडका हुआ था, जिसका वजन साढे सात पौंड था।

कुछ देर बाद हम उस नवजात बच्चे के घर गये। मुझे ताज्जुब हो रहा था कि लोगो से भरे हुए छोटे-से मकान में प्रसव एकान्त मे किस प्रकार होता होगा। एक छोटी-सी कोठरी के एक कोने मे, एक चारपाई डाल कर उसके आगे आड कर दी गयी थी। मेरी सहेली ने मुझे बताया कि इस पर भी एकान्त नाममात्र का होता है और गांव के बच्चे तक इन बातो के बारे में बहुत कुछ जानते हैं।

लक्ष्मी लेटी थी और उसकी बगल में उसका सात घंटे का पुत्र सो रहा था।

मैंने उसे उठाया और हैकी ने उसे थोडा पानी दिया। अगले दिन जब हम फिर उसे देखने गयी तो हैकी ने मुझे शिशुओ को स्नान कराना सिखाया और मैंने उस बालक को नहलाया। पडोस की औरतें और बच्चे दरवाज़े के बाहर खुशियाँ मना रहे थे। यदि लडका न हो कर लडकी हुई होती तो शायद इस प्रकार की खुशियाँ न मनायी जाती।

एक रात भोजन करने के पश्चात्, एक नर्स और मैं गाँव की एक लडकी के घर जा पहुँची, जिसकी उसी समय शादी हुई थी। सुबह करीब ७ बजे उसका वर आया था। हमने उसे अपने अहाते के पास से गुज़रते देखा था। वह पास के गाँव का था। (अधिकाश शादियाँ पर-गाँव में ही होती हैं।) बैलगाडियो का, जिनमें उसके मित्र और सम्बन्धी बैठे थे, एक छोटा-सा जुलूस उसके साथ था।

जुलूस के आगे-आगे एक बैण्ड था, जो शायद रास्ते भर बजता रहा था। ऐसे जुलूस को, जिसके साथ वर वधू के घर आता है, बारात कहते हैं। मैं पहले भी दिल्ली में सुमन के साथ बारात देख चुकी थी, किन्तु इस गाँव के वर के पास पीली मोटर नही थी।

जुलूस गाँव की सीमा पर आकर रुक गया था। जब वधू के परिवार के एक व्यक्ति ने आकर वर का और उसके परिवारवालो का हाथ जोड कर और "जय राम" कह कर अभिवादन तथा स्वागत किया, तब बारात वधू के घर की ओर बढी। वधू के यहाँ पहुँच कर सारे दिन धार्मिक-सस्कार और खान-पान होता रहा।

शाम को जब हम वधू से मिलने गयी, उस समय तक वर और वर पक्ष-वाले भोजन करके जा चुके थे। हमें घर के अन्दर बुला लिया गया और हमने देखा कि वधू अपनी माँ और अन्य दो औरतो के साथ आँगन के एक कोने में बैठी थी। उसके बालो की कई छोटी-छोटी चोटियाँ गूँथी जा रही थी। वह करीब सोलह साल की लगती थी और बहुत सुन्दर थी। चूँकि वह गाँव की बेटी थी और उसका पति और मेहमान जा चुके थे, इसलिए उसका मुँह खुला हुआ था। उसने यह सब बातें हमें यह कह कर बतायी कि जो लोग बाहर बैठे बातें कर रहे थे, वे सब तो उसके "भाई" हुए, इसलिए उसे मुँह ढंकने की ज़रूरत नही थी।

उसका पति अगले दिन आकर शाम को उसे अपने गाँव ले जानेवाला था। उसे तीन दिन ससुराल मे रहना था। वहाँ भी वही खान-पान, और पूजा सस्कार होनेवाले थे। और तीन दिन के वाद ६ या ८ महीने के लिए उसे अकेले अपने गाँव लौट आना था। उसके वाद वह अपने पति के घर स्थायी रूप से रहने जायगी। वहाँ वह गाँव की वेटी नही होगी और पुरुषो के सामने उसका मुँह ढंका रहेगा।

शादी के वाद लडकी अपने घर कितने दिन रहे यह लडकी की आयु पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ—हम एक दूसरी लडकी से मिले, जिसकी शादी जब वह नौ साल की थी तभी हो गयी थी और अब वह अठारह साल की थी। अभी वह चावला में ही रहती थी—अपने पति से दूर। मेरा खयाल है कि वह अब जल्दी ही ससुराल चली जायगी।

अधिकाश लडकियो की शादियाँ ८ से १५ साल की उम्र में हो जाती हैं। यही वात हम अमरीका में सुनते हैं और उसकी वजह से हम वाल-विवाह को ले कर भारतीयो की आलोचना करते हैं। परन्तु जन-स्वास्थ्य की सुपरवाइज़र ने जैसा हमें वताया—"अन्तत वात वही है। इस इलाके मे वधू प्राय अपने पति के साथ उस समय तक नही रहती, जव तक कि वह सत्रह या अठारह साल की नही हो जाती, और सत्रह वर्ष की होने के पूर्व किसी-किसी लडकी के ही वच्चा होता है। आम तौर से वह इससे एक या दो साल वडी ही होती है।"

हाल ही में एक कानून पास हुआ है जिसके अनुसार पन्द्रह वर्ष की होने से पूर्व लडकी का विवाह नही किया जा सकता। लडके की उम्र कम-से-कम १८ वर्ष की होनी चाहिये।

मुझे चावला सुन्दर लगा। वहाँ का जीवन अनिवार्यत सादगीपूर्ण था। वर्तमान समाज के जटिल और वहुधा अनावश्यक प्रभाव वहाँ अभी तक नही आये थे। मैंने किसी तरह अनुभव किया कि उनके फलस्वरूप वहाँ के लोग अपने प्रियजनो और प्रकृति के अधिक निकट थे। वे लोग अन्य लोगो की अपेक्षा पृथ्वी, वर्षा और पशुओ पर अधिक निर्भर रहते थे। मुझे यह वाता-वरण सुखी लगा।

गाँव की ऊबड-खावड धरती के रग से मिलते-जुलते घर, पकी हुई मिट्टी

के मटके, लकडी का हल, घर के काते गन के कपडे, सब बिलकुल सादे थे और उस प्रकृति के ही अग थे, जिनसे उनका निर्माण हुआ था। इसी कारण वे मुझे सुन्दर लगे।

वहाँ की शान्ति विस्मयजनक थी। उसे पूर्ण नीरवता नही कह सकते। पशुओ की घण्टियो की टनटनाहट, कुत्तो का भोकना, चिडियो के गीत, बाँसुरी की स्वर-लहरी जैसी अनेक मधुर आवाजे उस शान्ति मे रह-रह कर गूंज उठती थी। नजफगढ जानेवाली कोई ट्रक कभी-कभी गाँव के पास की बहुधा शान्त रहनेवाली सडक मे गुजर जाती थी। मशीनो की आवाज कभी-कभी सुनायी दे जाती थी।

परदेशी होने के नाते मुझे चावला मे सुन्दरता, मिलनसारी और शान्ति के दर्शन हुए। परन्तु यदि मेरा जन्म उस गाव मे हुआ होता, यदि मैं निरक्षर रहती और जब कभी आशा के विपरीत पैदावार काफी न होने मे मुझे भूखा रहना पडता तथा युवा होने पर मैं गाव मे बाहर निकलती और दूसरो के ऐश-आराम देखती, तब सम्भवत गाँव की जिन्दगी के प्रति मुझ में घृणा का भाव ही उत्पन्न होता।

उस समय मुझे यहाँ—जहाँ लोग, अभावग्रस्त और अनावश्यक रूप से दु खी रहते हैं, यही सुन्दरता देखने को नही मिलती। और तब या तो मैं गाँव से चली जाती और शहर में बस जाती, जो मुझे अधिक आकर्षक लगता, क्योकि वहाँ मुझे वे सब सुख-सुविधाएँ मिलती, जिनकी मैंने गाँव में कभी कल्पना भी न की होती। या फिर मैं अपने लोगो की सहायता करने के लिए वापस आ जाती।

अनावश्यक रोग और खराब स्वास्थ्य कुरूपता है, भूख कुरूपता है। अशिक्षा और अज्ञान कुरूपता है। सम्भवतः मुझ परदेसिन को इन कुरूपताओ का कभी अनुभव नही हुआ था और मैं यह भी जानती हूँ कि लोग इन कुरूपताओ को दूर करने के लिए अथक प्रयत्न कर रहे थे, इसीलिए शायद मैं गाँव में सुन्दरता के दर्शन कर सकी।

ग्यारह

कालेज का जीवन

दिल्ली पब्लिक स्कूल मई में गर्मियो की छुट्टियो के लिए बन्द हो गया। मैंने बडी प्रसन्नता से उससे विदा ली और इस निश्चय के साथ कि अगस्त में जब वह फिर खुलेगा, मैं लौट कर उसमें नही आऊँगी। उस वर्ष मैं क्या करूँगी, इसका मैंने निश्चय नही किया था। कभी भी कुछ समय तक लगातार मैं दिल्ली से, जिसे मैं अपना घर मानने लगी थी, बाहर कही नही रही थी—इसलिए बाकी देश से मैं अपरिचित थी। प्रश्न यह भी था कि मै अपनी स्कूली पढाई को यो कब तक रोके रहूँ।

मैंने पश्चिम बगाल के एक विश्वविद्यालय के बारे में सुन रखा था, जहाँ भारतीय सस्कृति के अध्ययन पर जोर दिया जाता है। यह विश्वविद्यालय कलकत्ते से सौ मील उत्तर मे स्थित है। जब वहाँ मुझे एक विशेष छात्रा के रूप मे प्रवेश मिल गया, तब मुझे बडी खुशी हुई।

इस विश्वविद्यालय की, जिसका नाम है शान्तिनिकेतन, स्थापना महान कवि, लेखक, कलाकार और सगीतज्ञ रवीन्द्रनाथ टैगोर ने की थी। १९४१ में अपनी मृत्यु होने तक टैगोर स्वय इसका सचालन करते रहे। अपनी आत्मकथा के "मेरी पाठशाला" शीर्षक अश में टैगोर ने लिखा है —

शिक्षार्थी के मस्तिष्क में यह विचार बोया जाना चाहिए कि वह एक मानवीय ससार में पैदा हुआ है, जिसका उसके चारों ओर के ससार से सामंजस्य है। हमारे नियमित [illegible] से हम श्रेष्ठ ध्यान का कठोर और सर्वतोपूर्ण रूप अपनाकर इसी महत्व की सेवा करते है।

हम भूगोल की शिक्षा देने के लिए बालक को मिट्टी से दूर हटाते हैं, व्याकरण सिखाने के लिए उसकी भाषा उससे छीनते हैं ..

• बालक का स्वभाव अपनी पीडा की समस्त शक्ति से इस अत्याचार का विरोध करता है और अन्त में दण्ड के भय से चुप हो जाता है।

तथापि १९४१ मे टैगोर की मृत्यु होने के बाद और शान्तिनिकेतन के सरकार द्वारा समर्थित विश्वविद्यालय बन जाने के बाद उसका कालेज बहुत-कुछ भारत के अग्रेजी ढग के कालेजो के समान कर दिया गया है। मेरा विचार है कि यह बात दुर्भाग्य की हुई। फिर भी टैगोर की भावना अब भी वहाँ व्याप्त है और इसी कारण तथा वहाँ के कला और सगीत-स्कूलो का लाभ पाने की इच्छा से मैंने शान्तिनिकेतन जाने का निश्चय कर लिया।

शान्तिनिकेतन मे स्कूल का साल जुलाई के मध्य में शुरू होता था। परन्तु चूँकि कोई भी समय की पाबन्दी की परवाह नही करता था और न उस पर जोर देता था, और चूँकि मुझे दिल्ली छोडने की जल्दी न थी इसलिए मैं कुछ दिन देर करके पहुँची।

दिल्ली छोडना कुछ अजीब लगा। शहर की बहुत-सी चीजे मुझे नापसन्द थी, जैसे उसका पाश्चात्य शैली का तथा कृत्रिम वातावरण। जब मैं अपरिचित लोगो के बीच मे गुजरती तो लोग मुझे घूरा करते और मैं सबसे अलग दिखाई देती थी। ये बाते भी मुझे पसन्द नही थी।

परन्तु दिल्ली मेरा घर बन चुकी थी और उसकी कुछ बातो को मैं प्यार करने लगी थी—जैसे उसके भीड-भरे बाजार, मेरे अस्पताल के बच्चे, सुमन, शकूर और दूसरे नौकर, जो मेरे अच्छे मित्र बन गये थे। उनसे और अपने परिवार से भी विदा होने में मुझे बडा दु ख हुआ। इन सबको छोड कर बोलपुर की, जो शान्तिनिकेतन का सबसे नज़दीक का स्टेशन है, छब्बीस घटे की रेल-यात्रा करना आसान न था।

स्टेव गाडी में मेरे साथ थी। हमने छ सीट के दूसरे दर्जे के डिब्बे में दो सीटें रिजर्व करा ली थी। कलकत्ते की ओर आगे बढते हुए मैंने अपने साथ सफर करनेवाले लोगो पर गौर करना शुरू किया। (मेरा खयाल है कि रेल के डिब्बे में सभी एक दूसरे पर गौर करते हैं।) डिब्बे में दो भारतीय किशोरियाँ थी—बडी हँसमुख और मैत्रीपूर्ण, जो लखनऊ के एक लडकियो के

कालेज में पढने जा रही थी। उन्होने सादी सफेद सूती साडियां पहन रखी थी। दोनो ने अपने काले, सुन्दर वालो की दो-दो चोटियाँ वना रखी थी।

तीसरी सीट शुष्क, उग्र स्वभाववाली अधेड आयु की एक अँग्रेज़ महिला की थी। वह कानपुर जा रही थी। उसने हमें वताया—"मैं लगभग चाय के वक्त उतर जाऊँगी।"

दो यात्री और थे। एक मोटी, अधपके वालोवाली पजावी महिला और उसकी दुवली-पतली सुन्दर पोती। वे शायद पजाव की विस्थापित थी, जो दिल्ली में आ कर वसी थी। वे वहुत कम वोली और वाकी मुसाफिरो की तरह अधिक समय सोती रही।

अँग्रेज़ महिला के कहने के अनुसार ही गाडी चाय के समय कानपुर पहुँची। वह महिला और दोनों छात्राएं वहां उतर गयी। अंधेरा पडने के वाद हम इलाहावाद पहुँचे जो वनारस के पास है। दोनो पजावी महिलाएँ वहां उतर गयीं। अव रात भर के लिए डिव्वे में मैं और स्टेव ही रह गयीं।

सवेरे हम एक नयी भूमि में पहुंच गये—वगाल की चावल उपजानेवाली हरी और तर भूमि में। कही खेतो में लोग एडी-एडी भर पानी में हल चला रहे थे और कही लोग हरे-हरे पौधो को एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर लगा रहे थे। जिस भूमि को हम छोड कर आये थे, वह इसकी तुलना में भूरी और सूखी थी।

स्टेशनो पर हमने देखा कि भाषा और लिपि दिल्ली से भिन्न थी। जगह-जगह कोलगेट टूथपेस्ट, अग्रेज़ी विस्किटो, भारतीय सीमेंट तथा दूसरी वस्तुओ के वगला भाषा के विज्ञापन लगे हुए थे। यह भाषा हिन्दी की एक वहन है। लोगो की वाणी धीमी और सगीतमय थी।

पहनावा भी उनसे भिन्न था, जिनको देखने के हम दिल्ली में आदी हो गये थे। पुरुष अपने शरीर के चारो ओर लपेट कर धोती वांधते थे। स्त्रियां मेरी तरह सलवार-कमीज के वजाय साडियां पहनती थीं।

दोपहर के भोजन से पहले ही हम नोलपुर और शान्तिनिकेतन पहुँच गये। स्टेव कुछ देर बाद लौट गयी और मुझे अपने कमरे मे पहुँचा दिया गया। मेरा कमरा लडकियो के निवास के उस हिस्से मे था, जिसमें कला की छात्राएँ रहती थी। लगभग तीस छात्राएँ उसमें थी। अधिकाश कमरो में दो-दो लडकियाँ साथ रहती थी और कुछ में अकेली। मेरा कमरा दो लडकियो के रहने के लिए था, परन्तु मेरे साथ दूसरी लडकी अगस्त में आयी। दूसरी मजिल का यह कमरा छोटा था। दीवारे सादी और सफेद पुती हुई थी, पत्थर का फर्श नगा था। उसमें दो तख्त जैसी नीची चारपाइयाँ पडी थी जिन पर पतले गद्दे बिछाये जाते थे। दो मेजे और एक स्टूल भी था। कमरे में चार खिडकियाँ थी—दो बाहर खुलती थी और दो अन्दर हाल मे। इनसे कमरे में काफी रोशनी और हवा आती थी। बिजली की एक मद्धम बत्ती भी थी जिसके प्रकाश में रात को पढा नही जा सकता था। कमरा सादा और सुख-मय था।

मैंने अपना सामान खोला, तस्वीरे, किताबे और दूसरी छोटी-मोटी चीजे अल्मारियो मे जमायी। बिस्तर एक चारपाई पर बिछाया और उस पर एक रगीन चादर बिछाई, अपने कपडे एक छोटे-से बक्स में जमाये। अब कमरा मुझे अपना ही लगने लगा। मुझे विश्वास हो गया कि इस कमरे में मैं खुश रहूँगी।

अपने आगमन के दो दिन बाद मैं अपने कमरे में बैठी पढ रही थी कि मुझे छत पर किसी के भागने की धप-धप की आवाज सुनायी दी। मेरी खिडकी के ऊपर वह आवाज रुक गयी और मैंने देखा कि एक काला हाथ नीचे उतरा और उसके पीछे-पीछे एक बन्दर का बडा-सा, बालदार भूरा शरीर। वह मेरी खिडकी में आकर बैठ गया और कुछ देर मुझे तथा मेरे कमरे को देखता रहा। फिर, जिस फुर्ती से वह आया था उसी फुर्ती से चला गया। मैं समझ गयी कि वह "कमरा निरीक्षक" था, क्योकि मुझे मालूम था कि वह इसी तरह और लडकियो का भी निरीक्षण कर आया था। मैने महसूस किया कि मैं उसकी परीक्षा मे उत्तीर्ण हो गयी हूँ और वह मुझे अपनी चर्चाओ का विषय न बनायेगा।

और भी जीव-जन्तु मेरे कमरे के चक्कर लगाया करते थे, जैसे चिडियाँ, ,लियाँ, कुत्ते और हर तरह के कीडे-मकोडे। एक चिडिया ने दीवार के

एक कोने में घोंसला बना लिया था और वह अक्सर आकर उसमें बैठा करती थी। मुझे मालूम है कि मेरी गैरहाजिरी में कौए खाने की तलाश में आया करते थे। छोटी और बड़ी सभी तरह की छिपकलियाँ रात को निकलती और दीवारों पर दौड़-दौड़ कर कीड़े-मकोड़े पकड़ती थीं। मैं इनसे और वे मुझसे दूर ही रहती थीं।

आवारा कुत्ते, जो रसोई से भोजन चुरा-चुरा करके अपना पेट ठूँस लिया करते थे, इच्छानुसार छात्रावास में घूमते थे। बाहर मेरी खिड़की के नीचे, घास में दो गायें बंधी रहती थीं और मुर्गियों के बच्चे आजादी से इधर-उधर घूमा करते थे।

मैंने जल्दी ही अपने को शान्तिनिकेतन के जीवन में ढाल लिया। रोज सवेरे पांच बजे से कुछ पहले ही मैं अपनी होस्टल की साथिनों की बोल-चाल और गाने से जाग जाती थी। इस समय सूर्य की किरणें फूट ही रही होती थीं और काफी ठंडक होती थी।

लगभग छः बजे हम बड़े-से भोजन-कक्ष में नाश्ता करते थे। नीची-नीची लकड़ी की मेजों के सामने हम सँकरी बेंचों पर बैठते थे। नाश्ते में कोको के साथ ताजा मक्खन लगी हुई रोटियाँ, जिन पर शक्कर बुरकी होती थी या पूरियाँ और एक हरी सब्जी मिलती थी।

रोज नाश्ते के बाद एक छोटी-सी गायन-प्रार्थना सभा होती थी। विद्यार्थियों के अलग-अलग दल एक-एक करके उसका नेतृत्व किया करते थे। प्रार्थना चुपचाप होती थी और टैगोर के लिखे गीत हमारे अमरीकी लोकगीतों से काफी मिलते-जुलते थे।

देखभाल में हिस्सा लिया करती थी, इसलिए स्वाभाविकतया उनमे मुझे ममत्व हो गया था। मुझे इस बात का बडा दु ख था कि हमारे भोजन में माँस बहुत जरूरी था। मेरा खयाल है कि ऐसी जगह में, जहाँ मेरे चारो ओर सब लोग आमिष भोजी ही थे मैं माँस खाना बन्द नही कर सकती थी, परन्तु भारत में जहाँ निरामिष भोजन इतना प्रचलित है, मुझे अपनी आदत बदलने में बहुत आसानी हुई।

यह हमारी इच्छा पर था कि हम चपातियाँ लें या चावल। पजाबी दूसरे उत्तर भारतीय और मै चपातियाँ लेते थे। चावल बगालियो और दक्षिण भारतीयो का मुख्य भोजन है। इनके साथ आलू का एक शाक, साधारणतया एक हरी सब्जी, दाल और दही की शक्कर मिली चीज़ें मिलती थी। दही की इन मीठी चीज़ो को खाते तो मैं अघाती नही थी। साल के कुछ मौसमो में जब कि बाज़ार मे कोई एक शाक बहुत और सस्ता मिलता था, तब रोज़-रोज़ वही शाक बनता था, और कुछ हफ्तो बाद वह लगभग गायब हो जाता था। गोभी, पालक, बैंगन, भिंडी, टमाटर, प्याज, लौकी और सदासुहागन आलू हमें खाने को मिलते। यद्यपि बहुत-सी लडकियाँ कहती थी कि उनके घर के खाने की तुलना मे यहाँ का खाना बहुत खराब होता था, तथापि मुझे यह बहुत अच्छा लगता था।

भोजन के बाद दो-तीन घण्टे आराम और पढने का समय होता था और बहुत-सी लडकियो की तरह मैं इस समय सोती थी और किसी-न-किसी तरह तीसरे पहर की अपनी क्लास के लिए उठ जाती थी। मेरी क्लासें काफी देर तक चला करती थी।

क्लासो के बाद दो घण्टे खेल होते थे। कुछ लडकियाँ खेल खेला करती थी, कुछ दुकानो पर जाती, कुछ टहलने निकल जाती या आवास की सीढियो पर बैठ कर बातें किया करती।

मुझे दिन के इस सुहाने समय मे, जबकि बादल-विहीन नीला आसमान पश्चिम मे नारगी रग में खिल उठता था, अपनी सहेलियो के साथ घूमना बहुत अच्छा लगता था। खेलो में भी आनन्द आता था। हम लोग बास्केट-बाल से मिलता-जुलता एक खेल, 'नेट-बाल" खेला करते थे, जो मैंने दिल्ली पब्लिक [illegible]न में सीखा था। इसके अलावा "रिगटॉस' और "थ्रो-बॉल" भी, जो

"वालीवॉल" जैसा होता था, खेला करते थे।

७ बजे हमें हाजिरी के लिए छात्रा-वास पहुँचना पडता था। उसके बाद हम पढते थे या नृत्य और वाद्य-वादन का अभ्यास करते थे या लेक्चर, सभा, नाटक आदि देखने जाते थे। लगभग ८-३० बजे भोजन होता था। गाना, बातें और हो-हल्ला ये चीजे—जो मेरे खयाल मे लडकियो के सभी आवासो में पायी जाती हैं, खत्म होने पर हम जल्दी-से-जल्दी सो जाते थे।

बुधवार को शान्तिनिकेतन में साप्ताहिक छुट्टी रहती थी। विद्यार्थियो को उस रोज अपनी इच्छा के लगभग सभी काम करने की छूट रहती थी। न जाने क्यो शान्तिनिकेतन के बुधवार मुझे बड सुहाने, गर्म और खिली हुई धूपवाले दिनो के ही रूप में याद हैं जिनमें कि मैं पूरी तरह निश्चिन्त हो कर चमकती हुई धूप का आनन्द लिया करती थी। मुझे याद है मुझ पर कपडे धोने का पागलपन-सा सवार था। धुलने के बाद भी उन कपडो की सफाई और ताजगी की खशबू मुझे बडी प्यारी लगती थी, और उन बडे-से घास के मैदान में कपडे डालते वक्त जो धूप की गर्मी मैं अपनी पीठ पर महसूस करती थी, वह भी उतनी ही प्यारी लगती थी।

उस दिन मुझे वे सब काम करने का मौका मिलता था जिनकी कि सप्ताह भर उपेक्षा होती रहती थी। अपने कोर्स की किताबें पढने के अलावा मैं बाहरी किताबें पढ लेती थी। कभी-कभी मैं अपनी सहेली विजया से बंगला भी सीखती थी या वह मुझे अपने साथ शान्तिनिकेतन की ही किसी पिकनिक पर ले जाती थी। और अगर मेरा जी कोई काम करने को न चाहता, तो मैं अपनी नींद की ही कमी पूरी कर लेती थी—वास्तव में मेरा यह काम सप्ताह भर में सबसे ज्यादा प्रिय लगता था।

मुझे इतनी बँगला कभी आयी ही नही जो मैं प्रार्थना को पूरी तरह समझ पाती। इसलिए मैं कोशिश करके बाहर सीढियो पर अपने बैठने का स्थान बनाती थी। मैं वहाँ बैठकर शान्तिनिकेतन का डाकखाना, उसके पेड और मैदान तथा स्कूल के सामने से पास के गाँव को जानेवाली सडक की कभी-कभास की चहल-पहल देखती थी और अपने विचारो की लगामें ढीली कर देती थी।

अक्सर शान्तिनिकेतन की इमारतो को देखते हुए मैं सोचती थी कि वास्तव मे शान्तिनिकेतन सुन्दर नही है। शायद विश्वविद्यालय की इमारतें उसे सुन्दर नही दीखने देती। वे लगभग सब-की-सब पुरानी कक्रीट और ईंट की बनी एक-या दो-मजिली थी, जिनमें स्थापत्य-कला का ज़रा भी सौन्दर्य न था। रहने के मकान, कार्यालय, पुस्तकालय, सग्रहालय, दुकाने, थियेटर और विश्व-विद्यालय के विभिन्न स्कूल, कला भवन, सगीत भवन, कालेज (जिसकी क्लासें बाहर खुले में लगती थी), चीनी अध्ययन-भवन, हिन्दी अध्ययन-भवन और स्नातकोत्तर भवन—इन इमारतो में थे।

परन्तु उस जगह अद्भुत शान्ति का वातावरण था। मैदान खूब लम्बे-चौडे थे। हरियाली खूब थी, दिल्ली के मुकाबले मे बहुत ही ज्यादा। शान्ति-निकेतन एक चावल उत्पादक क्षेत्र में बसा हुआ है और आप टहलते हुए कुछ ही देर मे इस विद्या के सागर मे निकल चावलो के खेतो और छोटे-छोटे गाँवो की उर्वर भूमि मे पहुँच जाते हैं।

कभी-कभी शाम को किसी मित्र के साथ मैं किसी गाँव तक और खेतो के बीच की मेड पर टहलने निकल जाती थी। कही-कही चावल के खेत मीलो तक चले गये हैं जिनको देखकर असीम विस्तार की भावना पैदा होती है। मुझे वहाँ सौन्दर्य का अनुभव होता था।

टैगोर ने अपने इस प्रिय स्थान के विषय में लिखा है —

निरवरोध, निर्विकार वातावरण है—इस शान्तिनिकेतन आश्रम के चारों ओर। कहीं-कहीं खाड़ियाँ निकल आयी हैं, जिनके बीच मे उन्नत ताड के वृक्ष, काले जामुन के विटप, नन्हे पौधे और चींटियों के घरौंदे दिखाई देते हैं। इन एकाकी खेतों के बीच मे एक लाल पतली पगडण्डी क्षितिज के आंचल मे बसे गांव की ओर बलखाती चली गयी है, और इस मार्ग के पथिक हैं बोलपुर के बाजार को जानेवाले ग्रामीण। घास

का गट्ठर उठाये सथाल युवतियाँ कभी-कभी उधर से निकल जाती हैं, भार से लदी बैलगाड़ियाँ, जिनके कराहते पहिए दोपहर की धूप में धूल का एक बादल छोड़ देते हैं। बहुत दूर से देखा जा सकता है—इस प्रशान्त स्थली के मध्य निर्वक्र साल वृक्षों का कुंज, जिसके सघन पत्तों के वातायन मे किसी पथिक को मंदिर के कलश और भवन के छत के अग्रभाग की झाँकी मिल सकती है। इस आम्र-आमलक कुंज में, साल और महुए के आँचल में बसा है—हमारा शान्तिनिकेतन आश्रम।

टैगोर की कामना के अनुसार यहाँ प्रकृति से तो हमारा निकट का सम्पर्क था, परन्तु ज्यो-ज्यो शान्तिनिकेतन के जीवन से मेरा परिचय बढता गया, त्यो-त्यो मुझे अनुभव होने लगा कि जैसा ससार के और किसी भी विश्वविद्यालय में होता है, वैसे ही विद्यार्थियो और आसपास के गाँवो व नगरवासियो के बीच सम्पर्क का यहाँ भी अभाव था।

मुझे शान्तिनिकेतन ऐसा स्वर्ग मालूम हुआ जिसमें सभी के लिए पर्याप्त भोजन उपलब्ध था, रहने के लिए साफ-सुथरा स्थान था। किसी को कठिन परिश्रम करने की आवश्यकता नही थी और न इस बात की चिन्ता थी कि अगले वक्त भोजन कहाँ से आयगा? मुझे शान्तिनिकेतन में पूर्ण सुरक्षा का अनुभव हुआ। मैं वहाँ रह सकी इसे मैं अपना सौभाग्य मानती थी। लेकिन हमारे चारो ओर ऐसे लोग रहते थे जिनका जीवन हमसे बहुत भिन्न था, जिन्हे कडी मेहनत करनी पडती थी, जो हममें से कुछ विद्यार्थियो की तरह थाली का आधा खाना फेंक नही सकते थे।

इस वातावरण में मुझे कुछ बेचैनी का अनुभव होता था। अपने चारो तरफ के लोगो को भूलकर इस स्वर्ग के सुख का उपभोग करना आसान न था, जिसमें वे लोग हमारे साथ भाग नही ले सकते थे।

बारह

कढ़ाई, संगीत और कलाकौशल

ये विचार—जो मन्दिर में या शाम को घूमते समय मेरे मन में उठते थे, मेरी शिक्षा का एक अग थे और महत्वपूर्ण अग थे। परन्तु मेरी शिक्षा का एक और पहलू था जो शायद अधिक महत्वपूर्ण था। मेरा मतलब कालेज तथा सगीत और कला-भवनो की मेरी शिक्षा से है। चूँकि मुझे एक विशेष छात्रा के रूप में प्रवेश मिला था, मैंने ऐसा पाठ्यक्रम चुना था जिसमें कालेज की शिक्षा के साथ कला और सगीत की भी कुछ शिक्षा सम्मिलित थी।

कला-भवन के पाठ्यक्रम में मैं सिर्फ काढने-पिरोने की कक्षा में दाखिल हुई। इस विभाग में और भी कई कला-कौशल सिखाये जाते थे—जैसे बुनाई, चमडे का काम और बाटिक। बाटिक कपडे पर एक तरह की छपाई का काम होता है। कला-भवन में मुख्यतया भारतीय चित्रकारी, नमूनो और शिल्प पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

कढाई सीखने में मुझे विशेष आनन्द आता था। सप्ताह में दो बार दो-दो घटे के लिए इसकी कक्षा लगती थी। इसमें पॉच-छ लडकियाँ और थी—सब मेरी जैसी नयी। कला-भवन की इमारत के एक फर्नीचर-रहित कमरे में हम फर्श पर बैठती थी। खुली हुई खिडकियो से आनेवाली हवा कमरे को ठडा रखती थी और अपने आरामदेह काम में हमें चैन मिलता था।

हम सबके पास सूती कपडे का एक-एक बडा-सा चौकोर टुकडा था। अपने शिक्षक की सहायता से हमने कई महीनो में उसे एक रगीन नमूने का रूप दिया। शान्तिनिकेतन से विदा होते समय तक मैं ब्लाउजो, मेज़पोशो और दस्तरखानो पर नमूने काढना तथा अपनी सीखी हुई कढाई दूसरो को सिखाना अच्छी तरह जान गयी थी।

सगीत-भवन की दो कक्षाओ में मैंने प्रवेश किया था—एक तबला-वादन की और दूसरी कथकली नृत्य की। तबले की जोडी हमेशा एक साथ बजाई जाती है। एक का स्वर ऊँचा होता है, इसे दाये हाथ से बजाते हैं। दूसरे का

स्वर गभीर होता है, इसे बायें हाथ से बजाते हैं। तबला कभी-कभी स्वतत्र वाद्य के रूप में भी बजाया जाता है, परन्तु अधिकतर उस पर दूसरे वाद्यो के या गायन के साथ सगत की जाती है।

मैंने तबला-वादन सीखना क्यो पसन्द किया? इसके शायद दो कारण थे: एक तो मुझे ढोल की लय और आवाज़ पसन्द थी और दूसरे भारतीय वाद्यो में मुझे यह सबसे सहज लगा। यद्यपि शीघ्र ही मुझे पता चल गया कि तबला-वादन में कुशलता प्राप्त करने के लिए मुझे बहुत कठिन अभ्यास करना पडेगा। फिर भी मुझे खुशी थी कि मैंने सगीत-शिक्षा में यह वाद्य चुना।

हमारे शिक्षक बगाली थे। कद के लम्बे और रूप के सुन्दर। उनकी लम्बी, पतली और मज़बूत उँगलियाँ ठीक वैसी ही थी जैसी कि तबला बजाने के लिए चाहिए। मैं कोई कलाविद् तो नही हूँ, लेकिन मेरा खयाल है कि वे तबला बहुत अच्छा बजाते थे।

जब हमें बताते-बताते वे अपने तबला बजाने में तल्लीन हो कर उसे बजाते ही जाते थे तो मुझे बहुत आनन्द आता था। आँखें बद करके वे अपना सर इधर-उधर मटकाते जाते थे और अपने नगे पैर को तबले की ताल पर झटकते रहते थे। मैं उनका तबला-वादन सुनते या देखते कभी थकती ही नही थी।

हमारी तबले की कक्षा सप्ताह में तीन बार एक घण्टे के लिए लगती थी। कक्षा में चार-पांच लडके और दो-तीन दूसरी लडकियाँ थी, इसके लिए भी हम सगीत भवन के एक कमरे में फर्श पर बैठते थे।

सगीत भवन के दूसरे कमरे में हमारी कथकली नृत्य की कक्षा लगती थी। भारत के शास्त्रीय नृत्य की शैलियो में से केवल दो की शिक्षा शान्तिनिकेतन में दी जाती है। कथकली और मणिपुरी की। कथकली दक्षिणभारत का तीव्र-गति का, प्रबल, लयदार और अत्यत अभिव्यजनात्मक नृत्य-नाटक है। मणिपुरी, जिसका उद्भव उत्तर-पूर्वी भारत के मणिपुर में हुआ, प्रबल तो कम है, किन्तु कोमल अधिक है। नृत्य की ये दोनो शैलियाँ हाथ और मुख के परिचालन पर आधारित हैं।

लका के प्रसिद्ध कथकली नर्तक प्रेमकुमार, जो मेरी सहपाठी छात्रा के पति हैं—कहते थे कि "शरीर के परिचालन के द्वारा आन्तरिक भावनाओं की बाह्य अभिव्यजना" का नाम नृत्य है। वे कहते थे कि अभिव्यजना के दो मुख्य

माध्यम हैं—एक अभिनय अर्थात् मुख पर भाव-प्रदर्शन और दूसरा मुद्राएँ अर्थात् हाथो और उँगलियो का परिचालन, जिसके बिना नृत्य में न कोई अर्थ रहता है, न सौन्दर्य।

तथापि विभिन्न मुद्राओ और उनके तात्पर्य को समझे बिना भी भारतीय नृत्य खासकर कथकली को देखने में अ नन्द आता था। मैं अपने अभ्यास के समय भी सगीत भवन की खिडकियो से नृत्य की विभिन्न कक्षाओ को देखती रहती थी।

कथकली की प्रबलता और लय के कारण मैंने उसे सीखना पसन्द किया। हमारे अध्यापक दक्षिण भारतीय थे, जो बडी कुशलता और सुन्दरता के साथ नृत्य किया करते थे। वे परिपूर्णतावादी थे और जल्दी ही मुझसे परेशान हो गये, क्योकि मैं रोज कई घण्टे अभ्यास नही कर पाती थी।

कक्षा में तीन लडकियाँ और थी। हमारे शिक्षक ने पूजा नामक एक सुन्दर नृत्य से हमारी शिक्षा प्रारम्भ की। हम एक बडे-से, बीच में उभरे हुए और दोनो सिरो पर बजनेवाले एक वाद्य मृदग की ताल पर नृत्य करते थे, जिससे बडी गम्भीर आवाज़ निकलती थी। वह बिलकुल नृत्य के अनुसार बजाया जाता था और उसकी ताल से नृत्य के पदसचालन का सकेत मिलता था। तबले की ही तरह इसकी हर ध्वनि का नाम होता है—जैसे 'ते," "रे," "की"। नृत्य के "बोल" हमने जबानी याद किये।

लगभग एक महीने बाद हमने विभिन्न मुद्राएँ सीखनी शुरू की। कुल मुद्राएं चौबीस होती हैं और हर एक के दो से तीस तक या इससे भी अधिक अर्थ होते हैं। उदाहरण के लिए, पहली मुद्रा "पताका" कहलाती है। इस "पताका" मुद्रा के विभिन्न रूपो से शेर, राजा, सूर्य, हाथी आदि का बोध कराया जाता है। इन्हे याद करना आसान न था। जैसे-जैसे मैं आगे की मुद्राएँ सीखती वैसे वैसे पहले की सीखी हुई भूलती जाती—किन्तु अच्छे कथकली नर्तक को ऐसी सैकडो मुद्राएँ याद रहती हैं।

मेरी अन्य कक्षाएं कालेज में होती थी। मैंने भारतीय इतिहास, रवीन्द्र-ाहित्य (टैगोर की कविताओ, नाटको और दर्शन का अध्ययन), नागरिक-ास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र चुने थे और कुछ समय के लिए भारतीय कला का ास एवं बंगला भी।

इनमें मेरी सबसे अधिक रुचि भारतीय इतिहास के प्रति थी। हमारे अध्यापक इस विषय के महान विद्वान थे और इस बात के लिए बडे चिन्तित रहते थे कि उनके छात्र जितना अधिक हो सके उतना अधिक ज्ञान प्राप्त करें। कक्षा के बाद जब लडके उनसे प्रश्न करते थे तब उन्हे उनका पूरा-पूरा उत्तर देने में कुछ दूसरे अध्यापको की प्रवृत्ति के विपरीत बहुत आनन्द आता था।

उन्होने विषय का आरम्भ एक काफी लम्बी परन्तु ज्ञानवर्द्धक भूमिका से किया, जिसमे भारतीय इतिहास के अभाव, उसके स्रोतो, भारत के भूगोल आदि पर खूब प्रकाश डाला गया था। फिर हमने ईसा के २५०० वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होनेवाले भारतीय राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन किया। विश्वास किया जाता है कि मोहन-जो-दडो की, जो अब पश्चिम पाकिस्तान में है, सभ्यता का यही चरम युग था।

भारतीय इतिहास के प्राध्यापक कालेज के अन्य विषयो की तरह इतिहास पर भी भाषण देते थे। दिल्ली पब्लिक स्कूल की क्लासो की तरह यहाँ विचार-विमर्श नही होता था और कक्षा में प्रश्न करने के अवसर कम मिलते थे। हम नोट ले लेते थे। ज्यादा जानकारी के लिए हमें पुस्तकालय से पुस्तकें लाकर पढने की सलाह दी जाती थी।

भारतीय इतिहास तथा नागरिक शास्त्र की दो शाखाओ—अर्थ शास्त्र और राजनीति, जो मैंने लिये थे—की कक्षाएँ पेडो की छाया में लगती थी। हम विद्यार्थी फर्श पर छोटी-छोटी चटाइयो पर अर्द्धचन्द्राकार बना कर बैठते थे और अध्यापक हमारे सामने बैठते थे। गर्मियो की सुबह की तपन में हवा सुहावनी लगती थी। सर्दियो की ठंड में सूरज की गर्मी सुहावनी लगती थी, और पेडो का कोमल मर्मर और पक्षियो का कलरव अत्यत आनन्ददायक होता था।

भारतीय इतिहास के बाद मुझे टैगोर का साहित्य और दर्शन सबसे अधिक पसन्द था। इस कक्षा में मुख्यतया गैर-बगाली छात्र होते थे। हमारे अध्यापक, जो टैगोर-साहित्य के पडित माने जाते थे, जोर देते थे कि चूँकि टैगोर की कुल पाँच प्रतिशत रचनाएँ ही अंग्रेजी में अनूदित हुई है या लिखी गयी है, इसलिए जो लोग सचमुच टैगोर-साहित्य का अध्ययन करना चाहते है, उन्हे बँगला सीख कर मूल बँगला में उसका अध्ययन करना चाहिए। मैंने जब शान्तिनिकेतन छोडा, तब तक मैं इतनी ही बँगला सीख पायी थी कि बँगला भाषा की सरल

कविताएँ पढ और समझ सकूँ।

अपने अध्यापक के मुख से बँगला कविताओ के पाठ को सुनने में बडा आनन्द आता था। वे सगीतमय होती थी—लय से पूर्ण, कोमल और प्रवाहमय। मेरा खयाल है कि टैगोर की कविताओ का अधिकाश अग्रेजी अनुवाद भी सुन्दर है। (यद्यपि आमतौर पर मैं कविताओ की भक्त नही हूँ) अपनी पसन्द की एक कविता मैं यहाँ प्रस्तुत करती हूँ।

चैत्र की दावाग्नि वन-वन विचरण करती हुई,
कोने-कोने से पत्तियों और फूलों मे अपनी आभा प्रकट करती है।
आकाश रगों से उमड़ा पड़ता है,
पवन संगीत से उन्मत्त है।
झंझावात से झकझोरी हुई वनस्थली की शाखाएँ
हमारे रक्त में भी अपनी हलचल का सचार करती है।
हवा हर्षोल्लास से दिग्भ्रान्त है
और समीर शीघ्रता से एक फूल से दूसरे फूल के पास जाकर
उसका नाम पूछ रहा है।

रवीन्द्र साहित्य की कक्षा मे थोडे-से ही छात्र थे—एक पजाबी लडकी, एक अमरीकी लडका, एक लका का छात्र, एक दक्षिण भारत का, केनिया का ओकेलो और मैं। अपराह्न में कक्षा लगती थी और हममें से अधिकाश के लिए दिन की अन्तिम कक्षा होती थी। इसलिए अक्सर हम लोग बैठ कर घण्टो बाते करते और कभी-कभी इन बातो मे विषय तो कही-का-कही छूट जाता। इस कक्षा मे और सब कक्षाओ मे अधिक घनिष्टता रहती थी। हम मे से हर एक बारी-बारी से पढता था। फिर प्रश्न पूछे जाते थे और विचार-विमर्श होता था।

कक्षा एक इमारत की बरसाती में लगती थी, जिसके पास कालेज के दफ्तर और पास के होस्टल मे रहनेवाले छात्रों के अध्ययन-कक्ष थे। उसके इतनी निकट एक चाय की दुकान थी कि चायवाले को पुकारा जा सकता था। कक्षा के बाद रोज़ विचार-विनिमय के दौरान में हम आपस मे सबके लिए चाय मंगा लेते थे, फिर शायद समय के साथ उसके दौर भी बढ़ते [illegible] थे।

हमारे अध्यापक अशोक दा एक विभूति थे—दया और सौख्य की प्रतिमूर्ति। फुरसत के समय गद्य या पद्य समझने में वे मेरी सहायता करते थे। मेरे विश्वविद्यालय छोडने पर जब उन्होने तथा कक्षा के दूसरे छात्रो ने टैगोर की तीन पुस्तकें—दो बँगला और एक अँग्रेजी भाषा की, मुझे भेट की तो मुझे अपार हर्ष हुआ।

मेरे अन्य विषय—वनस्पतिशास्त्र और नागरिक शास्त्र, मेरे खयाल से वैसे ही थे जैसे दुनिया के किसी भी हिस्से में ये होते हैं। वनस्पति शास्त्र की कक्षा एक सुसज्जित प्रयोगशाला में सप्ताह में चार-पाँच बार लगती थी। कक्षा में लगभग बीस लडके-लडकियाँ प्रथम वर्ष के छात्र थे। उनमें से अधिकाश को अँग्रेजी मामूली ही आती थी। इसलिए अक्सर वनस्पति शास्त्र के अध्यापक बँगला भाषा में शिक्षा दिया करते थे। नागरिक शास्त्र के दोनो अनुविषय—अर्थशास्त्र और राजनीति में भी भाषा की यही समस्या थी। किन्तु हमारी पाठ्य-पुस्तकें अग्रेजी में थी, क्योकि अब तक बँगला या दूसरी भारतीय भाषाओ में ये पुस्तकें बहुत कम छपी हैं।

मेरे अर्थशास्त्र के अध्यापक, जिनसे मेरा बहुत मतभेद रहता था, अमरीका को पूँजीवादी देश कहते थे और फिर पूँजीवाद के लक्षण इन निम्नलिखित पूर्वाग्रह-पूर्ण शब्दो में बयान करते थे —

(१) वहाँ निजी सम्पत्ति होती है।
(२) उत्पादन मुनाफे के उद्देश्य से होता है।
(३) कोई गाँव आत्म-निर्भर नही होता।
(४) आय में भारी विषमता रहती है, धनी बहुत कम और निर्धन बहुत अधिक होते हैं।
(५) यह पूँजी के मालिको की इच्छा पर निर्भर करता है कि कब, कैसे और किस चीज का उत्पादन करे।

हमारी अर्थ शास्त्र की पुस्तको में लिखा था :—

पूँजीवाद की बुराइयों के कारण सोवियत रूस में उसका अन्त हुआ। वहाँ अब मजदूर वर्ग का शासन है, जिसने उत्पादन की समाजवादी व्यवस्था कायम की है। समाजवाद के अन्तर्गत एक पूँजीपति मजदूरों को नौकर नहीं रखता बल्कि उनको राज्य काम देता है, जो उत्पादन के सारे साधनों का स्वामी होता है और एक सुनियोजित योजना

के अनुसार उनका संचालन करता है। उत्पादन से होनेवाली प्राप्ति .. समानता के आधार पर लोगों को बाँटी जाती है।

एक रात हमारे अर्थ-शास्त्र के अध्यापक ने अमरीका की अर्थ व्यवस्था के विषय में विश्वविद्यालय के छात्रो के सामने भाषण दिया। सौभाग्य से भाषण के बाद प्रश्नो के लिए समय रखा गया था। उसमे दो अमरीकी लडको में से एक ने उन गलतफहमियो को दूर किया, जो मेरे अध्यापक ने पैदा कर दी थी।

मुझे शान्तिनिकेतन में ऐसी अमरीका विरोधी भावना बहुत कम देखने को मिली, परन्तु भारत के विभिन्न भागो में भारतीय विश्वविद्यालयो के छात्रो के साथ अपने सम्पर्क से मेरे पिता को मालूम हुआ कि बहुत-से छात्र अमरीका की अर्थ-व्यवस्था और अमरीकी सरकार की विदेश-नीति को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। पश्चिमी उपनिवेशवाद के उनके लम्बे और कडवे अनुभव को देखते हुए उनका यह सन्देह उचित ही है और अकारण नही कहा जा सकता। फिर भी, मेरे पिता ने अनुभव किया कि अधिकाश मामलो में गलतफहमी और अपूर्ण ज्ञान ने उनके विचारो पर रग चढा दिया था तथा वे सच्ची जानकारी हासिल करने को उत्सुक थे। मेरे पिता ने उन्हे असली जानकारी करायी।

किन्तु शान्तिनिकेतन में लडकियाँ अधिकतर इन विषयो की चर्चा नही करती थी और शायद इन पर विचार भी नही करती थी। मेरा खयाल है कि अगर लडको से मेरी ज्यादा जान-पहचान होती, तो उनके विचार कुछ भिन्न ही निकलते।

अमरीका के विषय में उनके विचार कुछ भी हो, उसके विषय मे जो कुछ भी उन्हे ज्ञात था, उसे वे पसन्द करते हो या नापसन्द, लेकिन, मैं समझती हूँ कि इन बातो ने मेरे प्रति उन छात्रो के रुख को किसी तरह प्रभावित नही किया। नलिनी शान्तिनिकेतन की मेरी सबसे घनिष्ठ सहेली थी। अमरीकी सरकार की नीतियो की ईमानदारी के प्रति अपना सन्देह और अमरीकी जनता के प्रति अपने साधारण अविश्वास को उसने मुझसे प्रकट किया।

चूँकि नलिनी ने अपनी धारणा शान्तिनिकेतन आनेवाले उन थोडे-से अमरीकी लोगो को देखकर बनायी थी, जिन्हे उसने भी माना कि, हमेशा अमरीका का सच्चा प्रतिनिधि नही माना जा सकता। इसलिए मैंने उससे अमरीका-

विरोधी न वनने का आग्रह किया। मेरा विचार है कि उसे अपने देशवासियों पर, विशेषकर अर्थशास्त्र के हमारे अमरीका-विरोधी अध्यापक के समान देशवासियो पर—गहरा विश्वास था। उन पर सन्देह करना उसके लिए सहज न था। विदेशियो पर सन्देह करना फिर भी आसान था।

१९५२ के सितम्बर में नलिनी ने मुझसे कहा कि अमरीका में भारत के प्रति जो सद्भावना का सागर उमड पडा है, उन पर उसे सन्देह है। उसकी समझ में नही आता था कि अमरीकी सरकार इतनी सहायता क्यो दे रही है? उसका खयाल था कि सद्भावना के अतिरिक्त इसका कोई गुप्त कारण होना चाहिए। उसे सन्देह था कि वास्तव में अमरीका चाहता है कि अगर तीसरा महायुद्ध हो तो उसमें भारत उसका साथ दे। नलिनी का मत था कि अगर यही वह अनिरिक्त कारण था, तो अमरीका स्पष्ट रूप से उसे स्वीकार क्यों नही करता?

एक वार उमने हमारे देश की हब्शी-विरोधी भावना की चर्चा की। उसने कहा—"वहाँ पिछले वर्ष सौ से अधिक मा्पीट की घटनाएँ हुई।" वह मेरी इस वात पर विश्वास करने को तैयार नही थी कि ऐसी घटनाएं तेजी से अतीत की वातें बनती जा रही हैं। कम्यूनिस्ट भी तो एशियाई छात्रो में ऐसी झूठी वाते फैलाने में कोई कसर नही रखते।

तेरह

नयी सहेलियाँ

शान्ति-निकेतन में मेरा दूसरा महीना गुजरते-गुजरते मुझे जान पड़ने लगा कि मेरा उत्साह घट रहा है। मैंने आशा की थी कि शान्ति-निकेतन में लड़कियाँ (और नहीं तो केवल इसी कारण कि वे शान्ति के निकेतन में रहती हैं) शान्त, सीधी-सादी और परिश्रमी होंगी। परन्तु मुझे शीघ्र ही पता चल गया कि लड़कियाँ जहाँ भी रहती हैं, चाहे अमरीका में हो चाहे भारत में, साधारणतया वे एक जैसी ही होती हैं। शान्ति-निकेतन ने इस मामले

मे ऐसा निरालापन नही दिखाया, जिसकी कि मैंने आशा की थी।

तथापि यह निराशा, जो कला-भवन के छात्रावास की लडकियो की निश्चलता और वाचालता से पैदा हुई थी, अधिक नही टिकी। शान्ति-निकेतन की बहुत-सी स्मृतियाँ मेरे मस्तिष्क मे हैं—अपनी अनेक सहेलियो की और उनके साथ गुजरे हुए अपने आनन्दमय समय की। इन स्मृतियो की तुलना में यह निराशा नगण्य ही है।

कला-भवन के छात्रावास मे भारत के लगभग सभी प्रान्तो की लडकियां थी। कम-से कम एक-तिहाई तो कलकत्ते और पश्चिम बगाल के दूसरे हिस्सो की थी। फिर काश्मीर की लडकियाँ थी, पजाब की थी, दिल्ली, उत्तर-प्रदेश, मध्यभारत, बम्बई, हैदराबाद और आसाम की थी। दो लडकियां लका की थी। समीरा इराक की थी, और एडना, जो सगीत और नृत्य सीखती थी, अमरीका की थी।

आमतौर पर वहाँ बँगला भाषा सुनने को मिलती थी। फिर भी मेरे-जैसे गैर-बगाली, जिनसे बँगला सीखने का आग्रह भी किया जाता था, बँगला बहुत कम जानते थे। वे आपस में तो हिन्दी या अग्रेज़ी में बाते करते थे और बगालियो के साथ अग्रेज़ी में।

लडकियाँ आमतौर से बडी आकर्षक थी। उनके सुडौल नाक-नक्श, स्निग्ध त्वचा, काली गहरी आँखे, स्वच्छ दन्तावलि और सुन्दर सघन काले बाल, जो तेल से चमकते और चोटियो में गुथे हुए होते थे। अधिकाश लडकियां छरहरे शरीर की और सुन्दर थी।

उनका पहनावा—साधारण सूती साडी और ब्लाउज़—बिल्कुल सादा होता था, परन्तु गौरवपूर्ण। साडियाँ सफ़ेद या हल्के हरे, नीले, गुलाबी, पीले या बैंगनी रग की होती थी, जो उनके गेहुँए रग पर फबती थी। कुछ लडकियाँ सादी चप्पलें पहनती थी—अधिकाश नगे पैर घूमती थी।

भारतीय युवती का शृगार बहुत श्रम-साध्य होता है। बालो में तेल डालना, कघी करना और चोटी गूँथना ही बहुत कठिन होता है। कई लडकियाँ आँखो का सौन्दर्य निखारने के लिए काजल लगाती थी। कुछ माथे पर लाल बिन्दी लगाती थी और विवाहित बगाली लडकियां माँग मे सिन्दूर भरती थी। यह सच है कि दर्पण देखने में भारतीय लडकी उतना ही समय लगाती है, जितना

कोई अमरीकी लडकी । परन्तु भारतीय युवतियो में एक ताजगी और सादगी के दर्शन होते हैं। कारण चाहे जो भी हो, आपको भान होता है कि जो सौन्दर्य उनमें दिखायी देता है वह पूर्णतया उनका अपना है।

थोडे ही समय में छात्रावास ने मुझे अपने परिवार का अग वना लिया और मैं अपरिचित व नयी न रही। पहिली भेट में कई लडकियाँ मुझसे जरा भी नही खुली। लेकिन कुछ ने तुरन्त ही मुझसे प्रेम और मित्रता का सम्वन्ध वना लिया।

इनमें एक थी विजया। मुझे शान्तिनिकेतन की दिनचर्या को अनुकूल वनाने मे विजया ने मेरी वडी सहायता की। हम दोनो सोलह वरस की और छात्रावास में सवसे कम उम्र की थी। चार वर्ष के कला के पाठ्यक्रम मे उसका पहला वर्ष था।

विजया का घर कलकत्ते में था और उसकी मातृभाषा वँगला थी। वह अग्रेजी और हिन्दी भी वोलती थी। अपने शुरू के दिनो में एक दिन सध्या को मैं विजया के साथ काफी लम्वी दूर, कलकत्ता उत्तर-पूर्वी विहार रेलवे लाइन तक घूमने गयी। यह लाइन विश्वविद्यालय की पूर्वी सीमा थी। उस समय विजया ने मुझे वँगला का पहला पाठ पढाया। हम रेल की पटरी से परे पुश्ते पर वैठे थे। तव उसने मुझे वताया कि वँगला हिन्दी तथा अन्य छ-सात भारतीय भाषाओ से कुछ मिलती-जुलती है। क्योकि सस्कृत ही इन सव भाषाओ की जननी है। सस्कृत भारतीय-यूरोपीय भाषाओ के परिवार की है और अव भारत मे वोली नही जाती।

पुश्ते पर वैठना वडा भला लग रहा था। हल्की-हल्की हवा चल रही थी और मौसम ठडा था। जव हम वहा वैठे थे तव एक रेलगाडी उधर से गुजरी। जिसके डिव्वे मुसाफिरो से पटे पड रहे थे। जव वह फक-फक करती हुई चढाई पर चढ रही थी तव हमने अपने हाथ हिलाये।

वरसात का मौसम अभी खत्म नही हुआ था। सुवह तडके पानी पड चुका था। लेकिन अपराह्न मे वादल फट गये थे और नीले आसमान में सूरज चमकने लगा था। हम जव लौटे तव सूर्य डूव रहा था।

इसके वाद ऐसी अनेक सध्याएँ मैंने विजया के साथ घूमने में वितायी। वह वडी मस्त थी। उसमे उत्साह भी अपार था। अक्सर उसके वालो में एक सुन्दर फूल लगा रहता था।

कला-भवन के आवास की हर लड़की किसी-न-किसी कारण से मुझे पसन्द थी। विजया को मैं उसके अच्छे स्वभाव और उत्साह के कारण पसन्द करती थी। एक और लड़की थी सोमा, जो मुझे बेहद अच्छी लगती थी, परन्तु उससे मेरी कभी घनिष्ठता न हो सकी। सोमा लंका की थी। उम्र में वह आवास की ज्यादातर लड़कियों से बड़ी थी और कथकली के प्रसिद्ध नर्तक प्रेमकुमार की, जिनका मैं पहले उल्लेख कर चुकी हूँ, पत्नी थी। वह बहुत सुन्दर थी—छरहरा बदन और लम्बा कद। उसका स्वभाव शांत, मैत्रीपूर्ण और उदार था। मैंने उसे कभी क्रोधित होते हुए नहीं देखा।

परन्तु मेरी सच्ची सहेलियाँ शिक्षा-भवन (कालेज) में थीं। इनमें नलिनी मुझे सबसे अच्छी लगती थी। नलिनी पंजाबी थी—भारी आवाज, हृष्ट-पुष्ट और आकर्षक। अन्य अनेक लड़कियों के विपरीत वह बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति की थी और घूमने-फिरने की शौकीन थी। विभाजन के पहले वह अपने परिवार के साथ पश्चिम पंजाब में रहती थी, जो अब पाकिस्तान में है। १९४७ में वे लोग भागकर भारत आये थे और दिल्ली में बस गये थे। नलिनी की मातृ-भाषा पंजाबी थी। इसके अतिरिक्त वह अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी बोलती थी और कुछ बँगला भी, जो उसने शान्तिनिकेतन आने के बाद सीखी थी।

शान्ति-निकेतन में तो यह उसका पहला ही वर्ष था, परन्तु वह तृतीय वर्ष (बी. ए.) की छात्रा थी। मेरी और उसकी कक्षाएँ इकट्ठी होती थीं। गाँवों तथा गाँवों के लोगों के प्रति उसे भी वैसी ही दिलचस्पी थी, जैसी मुझे। शान्ति-निकेतन के हमारे जीवन तथा पास के गाँवों और नगर के जीवन के बीच सम्पर्क का अभाव उसे भी वैसा ही खटकता था, जैसा मुझे।

शान्ति-निकेतन आने के कुछ ही समय बाद एक दिन मैं, नलिनी और विजया—हम तीनों छात्रावास से पश्चिम की ओर घूमने गयीं। श्रीनिकेतन जाने वाली कच्ची सड़क पर हम चल पड़ीं। श्रीनिकेतन शान्तिनिकेतन से लगभग तीन मील दूर, ग्राम-विकास-केन्द्र है। हम एक छिछली झील, पानी से भरे धान के खेतों और विश्वविद्यालय के कुछ भवनों के पास से गुज़रे। कोई एक मील दूर हमारी बायीं तरफ एक छोटा-सा गाँव पड़ा, जिसमें आठ-दस छोटी-छोटी फूस के छप्परों से छायी हुई कच्ची झोपड़ियाँ थीं। धान के खेतों के नीचे, एक ऊँचे-से टीले पर वे स्थित थीं। बरसात का मौसम था। हम गाँव के अंदर

उसकी एकमात्र गली में चली जा रही थी कि पानी पड़ने लगा। हमने एक ठिगने कद और सांवले रंग की औरत से उसके आंगन के छप्पर में शरण लेने की अनुमति मांगी। "अवश्य" उसने कहा और हम उस छोटी-सी कोठरी में बैठकर पानी के रुकने की बाट देखने लगी।

छप्पर साफ और सूखा था। कोने में एक नांद थी जिस पर एक बछड़ा घास खा रहा था। कच्चे फर्श पर लकड़ी का एक हल तथा कई दूसरे औज़ार रखे थे। दीवारो पर और छत के लट्ठो से मूंज की बड़ी-बड़ी टोकरियां लटक रही थी। हमने लगभग आधे घण्टे का समय वहां गा कर और बातें करके बिताया और बारिश रुकने पर हम छात्रावास को लौटी।

शान्तिनिकेतन के पास के गांवो में या तो बंगाली लोग रहते हैं या संथाल। हम संथाल गांव में पहुंचे थे। यह प्रश्न विवादग्रस्त है कि ठिगने कद और गहरे रंगवाले संथाल लोगो के पूर्वज द्रविड़ थे या उस आदिवासी दल के थे, जिसके विषय में अनुमान लगाया जाता है कि वह द्रविड़ो से भी पहले भारत में बसा हुआ था। जो भी हो, यह तो ज्ञात हो चुका है कि संथाल भारत के आदिवासियो में से थे, जिन्हे ईसा के २५०० वर्ष पूर्व आर्यों ने आक्रमण करके बिहार, पश्चिम बंगाल और भारत के मध्य भाग में खदेड़ दिया था।

इस तरह बाहरी दुनिया से बिलकुल अलग जगत में रहने के कारण उनका रहन-सहन और उनके कुछ रीति-रिवाज अब तक लगभग ज्यो-के-त्यो चले आ रहे हैं। आज वे भारत की सबसे असभ्य जातियो की गिनती में आते हैं। यह सही है कि शान्तिनिकेतन के आस-पास के संथालो का कुछ समय से बंगाली गांववालो के साथ निकट सम्पर्क है और श्रीनिकेतन ने जो काम किया है, उससे भी वे प्रभावित हुए हैं। फिर भी उनका एक अलग वर्ग है।

शान्तिनिकेतन छोड़ने के कुछ पहले एक छुट्टी के दिन मैं और नलिनी दोपहर में एक संथाल गांव में गयी। उनकी सकरी गली और छोटे-छोटे घर लगभग पूरी तरह सूने पड़े थे। कुछ बच्चे धूल में खेल रहे थे और एक घर के चबूतरे पर दो लड़कियां धान कूट रही थी। वे लजाने लगी, फिर भी उनमें स्नेह था। हम एक दूसरे की भाषा तो समझ नहीं सकती थी, इसलिए इशारों में हमने उन्हें समझाया कि हम उनकी सहायता करना चाहती हैं।

वे धान से भूसी अलग कर रही थी। उनका तरीका अजीब था। चबूतरे की कच्ची जमीन में प्याले की शक्ल का एक छोटा-सा गड्ढा था। उसमें मुट्ठी भर धान डाला जाता था। लकडी का एक भारी तख्ता वहाँ लगा था जिसके एक सिरे पर एक ऐसी चीज़ बनी हुई थी जो गड्ढे में ठीक बैठ जाती थी। यह लकडी का तख्ता एक ओर से ऊपर उठता था तो दूसरी तरफ से नीचे जाता था। जब पास के सिरे को नीचे दबाया जाता था तो गड्ढे मे बैठने-वाला सिरा ऊपर उठ आता था। छोड देने पर वह सिरा धम्म से गड्ढे में गिर जाता था और धान का छिलका टूट जाता था। काम बहुत मेहनत का था।

शेष घर बन्द थे और उनमें ताले पडे थे। जो थोडे-से खुले थे उनमें से एक में हमने एक अधेड औरत को आँगन में धान पीसते देखा। उसका नन्हा नाती पास ही खेल रहा था। हमने बँगला भाषा मे उससे पीने को पानी माँगा और जब उसने उसी भाषा मे उत्तर दिया तो हम चकित हो गयी। वह बोली कि उसने अपने घर के मर्दों से मामूली बँगला सीखी थी। घर के कुछ मर्द धान के खेतो में काम न रहने पर बगालियो और बिहारियो के साथ मजदूरी किया करते हैं।

उसका घर साफ और ठडा था। उसमें खिडकियाँ न थी इसलिए अदर अधेरा था। वह पीने का पानी मिट्टी के एक घडे में रखती थी। घडे पर चित्रकारी की गयी थी।

हमने पूछा कि गाँव के सब लोग कहाँ गये ? उसने बताया कि अधिकाश लोग बोलपुर के बाजार गये हैं। कुछ जो मजदूरी करते थे, काम पर गये थे। उसका स्वभाव बडा मधुर था और हमारा साथ पा कर वह बहुत खुश हुई। परन्तु थोडी ही देर में हम चल दी और सुर्ख तथा धूप से तपे खेतो मे होकर धीरे-धीरे अपने रास्ते लौटी।

शान्तिनिकेतन में मेरी एक और घनिष्ठ सहेली थी—मनजीत। वह भी पजाब की विस्थापित थी। मनजीत का घर पजाब के उत्तर-पूर्वी कोने मे था, भाखडा-नगल नहर के पास जहाँ उसके पिता ओवरसीयर थे।

मनजीत बडी शान्त और निष्कपट लडकी थी। वह हाथ की कती-बुनी खादी के कपडे पहनती थी, जैसे कि सेवाग्राम के लोग पहना करते थे। अपने

घने और रूखे बालो की वह एक लम्बी-सी चोटी बाँधा करती थी।

नलिनी की तरह मनजीत भी देश की सेवा करना चाहती थी। जब मैं गर्मियो में उसके घर गयी, मैंने उसकी माँ को बहुत समझदार पाया। लेकिन कट्टर भी वह पूरी थी। नौ सौ मील की अकेले यात्रा करके स्कूल जाने का विचार उसके लिए स्वाभाविकतया नया और कुछ भय पैदा करनेवाला था। और मनजीत जैसे खयालो की लडकी का होना तो और भी अनहोनी बात थी।

मनजीत गाँवो में सामाजिक कार्य करना चाहती थी। वह थी भी इसके उपयुक्त। किन्तु अपनी माँ के विरोध के कारण उसे विश्वास था कि अन्त में उसके जीवन की भी वही गति होगी, जो शान्तिनिकेतन की उसकी सहेलियो की होनी थी—बी. ए. पास करो, शादी करो और फिर घरबार बसा कर अपनी गृहस्थी में लीन हो जाओ।

सर्दियो में कुछ महीने हमने दौडने-भागने का अभ्यास किया। आखिरी कक्षा खत्म होने के बाद अंधेरा होने तक अभ्यास चलता था। हमे आशा थी कि जनवरी में हमें शायद अखिल भारत विश्वविद्यालय खेल-कूद प्रतियोगिता मे हिस्सा लेने के लिए मद्रास जाने को मिलेगा। इसका मतलब था—दोनो तरफ़ की चौबीस घण्टो से भी ज्यादा समय की यात्रा और दो-तीन रातें मद्रास में रहना। हम इसकी बडी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही थी—एक नये अनुभव और किताबो तथा अध्ययन से छुटकारे के रूप में।

मैं तश्तरी फेंकने का अभ्यास करती थी। (दिल्ली सेकण्डरी स्कूल ओलम्पिक में मैं प्रथम आयी थी।) कुछ लडकियाँ दौडने का, कुछ भाला फेंकने और कुछ बल्ली फेंकने का अभ्यास करती थी। दुर्भाग्य से हमारे प्रबन्धको को हमारे अभ्यास से दिलचस्पी नही थी, यद्यपि हममें और हमारे सिखानेवाले में उत्साह कूट-कूट कर भरा था। और जब मद्रास जाने का समय आया तो हमारे इतने कड़े परिश्रम के उपरान्त भी हमसे कहा गया कि हम जाने नही पाएँगी।

भागने का अभ्यास करनेवाली दूसरी दो लडकियो में एक थी दीपाली, जिसके मैं बहुत निकट आयी। हम दोनो रोज साथ अभ्यास करती थीं। फिर पहले मैं तश्तरी फेंकने का अभ्यास करती, तब वह दौड शुरू करने का। एक घड़ी से अपने भागने का समय नोट करवाती और उसको उसके अभ्यास में सहायता देती।

दीपाली कालज में दूसरे वर्ष की छात्रा थी और उसका साथ वडा आनन्द-दायक होता था। मद्रास का कार्यक्रम स्थगित होनेपर हम दोनो को वहुत निराशा हुई। परन्तु जो चार लडके जा रहे थे, उन्हे हम वोलपुर स्टेशन पर पहुँचाने गयी। हमने उनको फूलो के हार पहनाये और उनके लिए विजय की शुभकामनाएँ प्रकट की। प्रतियोगिता समाप्त होते ही उन्होने तार से हमें सूचना दी कि उनमें से किसी ने खेल-कूदो में तो कोई नाम नही किया लेकिन वे वहाँ आनन्द जरूर मना रहे थे।

हमारे शिक्षक सुवोध वडे फुर्तीले और आकर्षक व्यक्ति थे। अपनी सामर्थ्य-भर हमे अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देने की उन्हे लगन रहती थी। उन्होने मुझे और दीपाली को ऐसी प्रेरणा दी कि कुछ समय के लिए हम रोज़ सुवह चार-साढे चार वजे उठने और छात्रावास की छत पर जा कर व्यायाम करने लगी। वह समय वडा सुहावना होता था। जव हम उठती तव अँधेरा होता था और नाश्ते के वक्त तक दिन निकल आता था। लेकिन इतनी जल्दी उठने के कारण दोपहर के भोजन के समय तक हम वुरी तरह थक जाती थी। इसलिए कुछ समय के वाद मैंने और दीपाली ने यह क्रम वन्द कर दिया।

कुछ छोटी-छोटी लडकियाँ हमारी प्रशसक भी थी, जो अवसर हमसे कोई-न-कोई मदद माँगा करती थी। इनमे एक थी मिण्टुनी, जो ज्यादा छोटी तो नही, तेरह वरस की थी और माध्यमिक स्कूल में पढती थी। उसके पिता विश्वविद्यालय के सहायक रजिस्ट्रार थे और शान्तिनिकेतन में ही उनका घर था। मिण्टुनी की माँ उमा दी फुरसत के समय दस्तकारी किया करती थी और उनका छोटा-सा घर हाथ के वुने कपडो, कढाई के काम और वाटिक के नमूनो से सजा हुआ था।

मै वाटिक सीखने को वहुत उत्सुक थी। उमा दी ने मुझे सिखाने का भार लिया। इसलिए कोई एक महीने तक मैं लगभग रोज ही अपराह्न में या शाम को मिण्टुनी के घर जाती। फर्श पर वैठ कर हम साथ-साथ वाटिक का काम और वातें करती। (चूंकि मिण्टुनी अग्रेजी कम जानती थी और मुझे वंगला अधिक नही आती थी इसलिए हमारी वाते सीमित ही हुआ करती थी।)

मिण्टुनी ने दो रूमाल वनाये और मैंने एक वडा-सा मेजपोश और कुछ छोटे-छोटे दस्तरखान वनाये। उमा दी ने तरीका सिखा देने के वाद मुझे किसी

भी समय उनके घर आकर बाटिक का काम करने की अनुमति दे दी। इसलिए कुछ समय के लिए मैं उनके परिवार की एक स्थायी सदस्या की तरह बन गयी।

बाटिक के काम के लिए हम हल्के रंग के सादे कपड़े पर पहिले कोई नमूना बना लेती थीं। नमूना दो या तीन रंग का होता था। जैसे, मैंने जो मेज़पोश बनाया उसमें सफेद, पीला और नीला रंग लगा था। जो हिस्सा सफेद छोड़ना था उस पर पहिले मैंने मोम लगा दिया। फिर मोम छुड़ाये बिना कपड़ा पीला रंग लिया। कपड़ा जब सूख गया तब मैंने उन हिस्सों पर भी मोम लगा दिया, जिन्हें पीला रखना था। अब सारे कपड़े को नीला रंग कर मोम छुटा दिया। इस काम को करने में बड़ा आनन्द आता था और काम बहुत सुन्दर होता था।

मिष्टुनी की तीन बहनें थीं। एक जो उन दिनों वहाँ नहीं थी दूसरी मधुश्री, बड़ी सुन्दर और गम्भीर थी, जो कालेज में पढ़ती थी। तीसरी टुकु जो बहुत छोटी थी और ऐसी प्यारी तथा खिलाड़िन, जैसी कि लाड़-प्यार में पलनेवाली छोटी बहनें हुआ करती हैं।

मिष्टुनी और मधुश्री से बिलकुल जुदा किस्म का एक लड़का था—रामप्रवेश। वह इस्पात के नगर, जमशेदपुर का रहनेवाला बिहारी था। मेरा खयाल है कि वह अपने देश के भविष्य के प्रति अनावश्यक रूप से और अत्यधिक निराशावादी था।

उसने एक बार मुझसे कहा—"इतने सारे धनी जमींदारों के उच्च सरकारी पदों पर होते हुए भूमि-सुधार का काम बहुत ही मन्द गति से चलेगा। पूरा भूमि सुधार के बिना भारत कभी पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं होगा।"

यह सच है कि भारत में भूमि-सुधार की गति धीमी थी। परन्तु प्रवेश के अत्यधिक निराशावाद से मैं किसी भी तरह सहमत नहीं थी। महत्त्व की बात तो यह थी कि भूमि सुधार के कार्यक्रम आगे बढ़ रहे थे। अब गति भी धीरे-धीरे बढ़ रही।

यद्यपि उसकी अधिकांश बातों से मैं असहमत थी फिर भी शायद इसीलिए प्रवेश मुझे पसन्द था कि उसे अपने देश के भविष्य के प्रति चिन्ता थी और इस विषय में वह विचार करता था। जमशेदपुर के इस्पात के कारखाने में वह

मजदूर रह चुका था। भारत के लिए यह बात अजीब थी, क्योकि वहाँ अधिकाश छात्र शारीरिक श्रम से बचते हैं।

यद्यपि मेरे समय में शान्तिनिकेतन में अधिकाश छात्र बँगाली थे, तथापि वहाँ भारत के लगभग सभी भागो के गैर-बँगाली थे। इसके अलावा कई छात्र लका, नेपाल, वर्मा, चीन, इण्डोनेशिया, जर्मनी, तुर्की, इराक, मिस्र और केनिया (अफ्रीका) के भी थे। अधिकाश विदेशी छात्र उत्तर-स्नातक कक्षाओ के थे या अनुसन्धान-विभाग के और हम कालेजवालो की उनसे भेट वहुत कम होती थी।

अफ्रीका के केनिया का छात्र टामस ओकेलो कालेज मे पढता था और मैं उसे बखूबी जान गयी। लम्बा और हृष्ट-पुष्ट युवक था वह। चेहरा आकर्षक और वाणी कोमल तथा मधुर। उसने अपने देश के विषय में मुझे कुछ जानकारी करायी। वह जानकारी इतनी काफी थी कि मैं उस दिन के लिए अधीर हो गयी जब कि मुझे उसके देश जाने का अवसर मिलेगा।

मेरा ख़याल है कि विजया, नलिनी, मनजीत, दीपाली, सुबोध, मिष्ठुनी, प्रवेश और ओकेलो मेरे सबसे घनिष्ठ मित्र थे। परन्तु शान्तिनिकेतन में और भी कई लोग थे, जिनके काफी निकट मैं आयी और अब उनसे मीलो दूर बैठकर, मैं उन सबको अक्सर याद किया करती हूँ।

चौदह

कक्षा के बाहर

अपने मित्रो के साथ शान्तिनिकेतन के जीवन में परिश्रम-ही-परिश्रम हो और आनन्द न हो ऐसी बात नही। वास्तव में मेरा और मेरे साथ के लडके-लडकियो का वहुत-सा समय मिल-जुल कर आनन्द मनाने में वीतता था। लगभग प्रतिदिन रात को नाटक, सगीत और नृत्य, विद्वानो के भाषण या स्नेह-सम्मेलन जैसा कोई-न-कोई आयोजन हुआ करता था। कभी-कभी पिकनिक हो जाती थी।

में सभी भवनो की छात्रा थी, इसलिए मेरे साथ की लडकियाँ मुझसे हर भवन के समारोह में भाग लेने का आग्रह करती थी। अत' आयोजन चाहे वक्तृता के हो चाहे मनोरजन कार्यक्रम के, चाहे कला के छात्रो के लिए हो, चाहे सगीत के या कालेज के छात्रो के लिए, मैं सवमे शामिल रहती थी।

महीने मे कम-से-कम दो-तीन वार पिकनिक हुआ करती थी। पिकनिक दिन भर की भी होती थी और चाँदनी रातो में भी, अपराह्न में चाय पार्टी होती और सुवह तडके भी। सवमे वडी और वढिया पिकनिक का आयोजन एक रोज सितम्वर में कालेज और फैकल्टी के छात्रो के लिए हुआ था। वडी गर्मी थी उस दिन।

हम लगभग सौ विद्यार्थी सुवह नाश्ता करके शान्तिनिकेतन के पास मे गुज़रनेवाली कच्ची सडक पर चल पडे। यह सडक वोलपुर मे गोलपुर के गाँव तक जाती थी। हमें गोलपुर जाना था। सडक पिछली वरसात मे जीर्ण हो चुकी थी। चूँ-चर्र, चूँ-चर्र करती हुई वैलगाडियो को, जो हमारे पास न निकली, चलने में कठिनाई हो रही थी। सडक के दोनो तरफ दूर-दूर तक धान के हरे-हरे खेत विछे हुए थे, जिनके वीच मे कहीं-कहीं ताड के पेड या दो एक छोटे छोटे गाँव दीखते थे।

गोलपुर एक छोटा-सा वगाली कस्वा है— स्वच्छ और सुन्दर। हमने अपनी पिकनिक के लिए स्थल उसकी सीमा पर ही चुना था। एक कुँज में हमने डेरा डाला। पास ही एक छिछली और गन्दी-सी नाडी थी। मवेशी उसमें पानी पी रहे थे और भैंसे व गाँव के लडके उसमें नहा रहे थे।

पहले भोजन वनानेवालो की व्यवस्था हुई। भरे-पूरे रसोईघर में भी भारतीय ढग का खाना पकाना कोई सहज काम नहीं है, लेकिन हमारे "पाक-शास्त्रियो" ने वढिया-से वढिया भोजन तैयार करने का फैसला किया था। एक छायादार जगह में आलू और प्याज के ढेर लगा दिये गये थे। कुछ लडकियाँ इन्हें छीलने वैठीं। कुछ ने चावल धोये और दाल व साग तैयार करने लगीं। लडको ने आग सुलगायी। खाने का सामान और वरतन स्कूल के रसोईघर से एक वैलगाडी मे आये थे। उसी गाडी मे कुछ लडके [illegible] पानी लाने गाँव गये।

एक तरफ ये तैयारियाँ हो रही थीं, दूसरी तरफ कुछ लडके-लडकियाँ इधर-उधर [illegible] गाने-बजाने और [illegible] में लगे थे। मैं अब तक अपने हिस्से के [illegible]

छील कर निपटी तब तक रिंगटास, क्रिकेट और गाना-बजाना आदि ज़ोर पकड़ चुके थे। एक दल ताश खेल रहा था। कुछ लडकियाँ नाच-गा रही थी। एक तरफ कुछ लडके-लडकियाँ गा रही थी और कुछ लडके-लडकियाँ उनके गाने का आनन्द ले रही थी। और कुछ लडके खाडी में तैर रहे थे।

एक लडको ने जब आखिर पीतल के बडे-से बर्तन पर कलछी बजा-बजाकर खाना पक जाने की सूचना दी, तब हम सबको ज़ोर की भूख लग गयी थी। हम पक्तियो में घास पर पालथी मार कर बैठ गये। सबके सामने बडी बडी पत्तले रखी थी और तुरन्त ही उन पर गरम-गरम चावल, दाल, प्याज़ और आलू परोस दिये गये। सामिष-भोजियो को माँस भी परोसा गया। फिर आयी बँगला मिठाई—"मिष्टी।" खाने के बाद हमने पत्तले उठा कर फेंक दी। कौए और बैल उन पर टूट पडे। हम आराम करने लगे।

अपराह्न में कुछ लडको ने वही एक हास्य का कार्यक्रम पेश कर डाला—जिसमें नाच, गान, भाषण और अभिनय सभी कुछ था। हुआ तो सब कुछ बँगला मे, लेकिन उसमें इतनी बेसिर-पैर की बातें थी कि बगालियो और गैर-बगालियो सभी को उसमें बहुत मज़ा आया। दोपहर का ज़्यादा वक्त इसी मे बीता।

दिन की आखिरी घडियो में फिर रिंगटास और क्रिकेट हुई। लौटने से ज़रा देर पहले जब सूर्य पश्चिम को रोशन करने के लिए जा रहा था, हमने चाय पी और गाते-बजाते, खुशी-खुशी हम लोगो का जुलूस स्कूल को लौटा। आयोजन हमारे स्कूल के गीत—"आमदेर शान्तिनिकेतन" (हमारा शान्ति-निकेतन) के गायन से समाप्त हुआ। शान्तिनिकेतन में पिकनिको से ज्यादा समारोह होते थे। समारोह में कुछ भी हो सकता था—नाटक, कोई सस्कार या सगीत या नृत्य। मुझे जो समारोह सब से अधिक पसन्द आया, वह था लोक-नृत्यो और लोक-गीतो का।

जिस भवन में सगीत की सभाएँ लगा करती थी उसके बीच में एक आँगन है। इमारत की एक बाजू पूरी-की-पूरी आँगन की तरफ खुली है। यह हिस्सा बडा भारी रगमच बन जाता है और आँगन में दर्शक बैठते हैं। तारो भरे खुले आकाश के नीचे घास पर हम बैठे। गर्मी की रात थी इसलिए ठडी-ठडी हवा बडी सुहावनी लग रही थी।

कार्यक्रम में अधिकतर लोक-नृत्य प्रस्तुत किये गये। इनमें भी अधिकाश डंडियो के नाच थे, जिसमें बीस या तीस से ज्यादा लडके-लडकियां भाग लेते है। लडकियो ने लाल, पीली और नीली रेशमी साडियां स्कर्ट की तरह बांध रखी थी, हल्के रगो की चोलियां पहन रखी थी, कधो पर शाल पडी थी। उनके काले-काले चमकदार बालो में बडे-बडे लाल और पीले फूल शोभा पा रहे थे। गलो में सुन्दर-सुन्दर फूलो के हार पडे थे। बीच-बीच मे लडके भी थे, जो सादे और सफेद वस्त्र पहने थे। सिर पर वे नारगी रग के साफ़े बांधे थे और उसी रग के कमरबन्द लपेटे थे

हर नर्तक और नर्तकी के पास दो-दो डंडियां थी। सगीत की ताल पर वे या तो अपनी ही डंडियो को एक-दूसरे पर मारते थे या आपस में एक-दूसरे की डंडियो पर। आरम्भ में तो नाच की गति धीमी थी—लेकिन अन्त तक बहुत द्रुत तथा उत्तेजनापूर्ण हो गयी। डंडियो के नाच के भी कई रूप थे। एक कुछ-कुछ हमारे, एक अमरीकी नृत्य जैसा था जिसमें लडके कतार बना कर एक ओर घूम जाते थे और लडकियां दूसरी ओर, और उनकी क़तारें आपस में एक-दूसरे को बीच-बीच में काटती हुई गुजरती थी।

एक आर्केस्ट्रा का भी कार्यक्रम हुआ जिसमें पश्चिमी भारत के पहाडी लोगो की एक धुन बजायी गयी। भारतीय शास्त्रीय-सगीत में विभिन्न साजो का मेल नही होता, लेकिन यह धुन कई साजो की सगत में उपस्थित की गयी थी। एक सितार था, दो दिलरुबा थे, हार्मोनियम था, बांसुरी थी, तबला था और ढोलक भी थी।

तुर्की के एक छात्र—गुवान ने एक तुर्की गीत गाया। वाली के एक लम्बे खूबसूरत स्नातकोत्तर विद्यार्थी, मन्त्र ने एक इडोनेशियाई गाना सुनाया। फिर कुछ और भारतीय गीत हुए। फ्रासीसी, जर्मन, सस्कृत और बँगला कविताओ के पाठ के वाद अन्त मे एक अमरीकी छात्र ने गिटार पर एक बँगला गीत गाया। उसके भारतीय मित्रो ने उसमें वडा रस लिया।

सात अगस्त को टैगोर का जन्मदिवस वडी गम्भीरता मे मनाया जाता है और उस दिन शान्तिनिकेतन में अतिथियो की भीड लग जाती है। छ अगस्त को रात के भोजन के वाद वहुत रात गये तक कलाभवन की लडकियाँ छोटे-छोटे सफेद और पीले फूलो के, जो वे दिन मे ही चुन लायी थी, हार गूँथती रही।

समारोहो के लिए सजावट करने का काम हमेशा ही कला के छात्रो को दिया जाता है। इस काम में उन्हे वहुत आनन्द आता था और मुझे उनकी सहायता करने में।

हम छ-सात लडकियाँ किसी लडकी के कमरे मे फर्श पर और विस्तर पर बैठ जाती। काम भी होता जाता और साथ-साथ गाना और वाते भी। कभी हम फूल उठाकर अपने वालो में खोस लेती और कभी हारो को अपने गले मे डाल कर देखती।

शान्तिनिकेतन के चन्द्रालोकित प्रागण मे हमारी प्रभात-फेरी ने साढे चार वजे प्रस्थान किया। टैगोर-रचित एक गीत-मालिका को हम लोग गुनगुनाते चल रहे थे और उधर निद्रालस प्राची में तद्रिल सूर्य निकल रहा था। प्रत्येक पूर्णिमा की ज्योत्स्नापूर्ण रात्रि मे ऐसी सगीत-मंडली का आयोजन होता था।

तत्पश्चात् दिन के समय मदिर में सवत्सरी की पूजा हुई। तीसरे पहर वृक्षारोपण का आयोजन हुआ, जिसमें अतिथियो की उपस्थिति असाधारण थी। शान्तिनिकेतन का इस प्रकार जनाकीर्ण तथा कोलाहलपूर्ण हो जाना अप्राकृतिक था।

सुनिश्चित समय पर मेरे होस्टल की सहेलियो और सहपाठिनियो की एक लम्बी कतार निकली और जुलूस बना कर भीड के बीचो-बीच उस सुरक्षित स्थान पर जा पहुँची, जहाँ पौधे लगाने का सस्कार होने वाला था। ये लडकियाँ चटकीले पीले रग की साडियाँ और सफेद ब्लाउज़ पहने थी। सबके हाथ में

छोटे-छोटे पौधे या फूलो के गुच्छे थे ।

इस जगह के बीचो-बीच कला के छात्रो ने अल्पना (रगोली) बनायी थी। अल्पना सुन्दर रेखाकृतियो का चित्र होता है, जो पक्के फर्श पर चावल के आटे और पानी के रगो से बनाया जाता है। अधिकतर वह श्वेत रग का होता है किन्तु हमारी अल्पना में लाल और पीले रग भी थे ।

पूजा-सस्कार बँगला में कराया गया इसलिए उसे पूरा तो मैं नही समझ सकी। परन्तु जितना कुछ भी समझी उसकी सरलता बडी आकर्षक और सुन्दर लगी ।

भारत के सबसे बडे नगर कलकत्ते में, जो शान्तिनिकेतन के पास ही है—मैंने जो चार दिन छुट्टी मनायी वह इस शान्त और गम्भीर जीवन से सर्वथा भिन्न थी। जनवरी के अन्त में छुट्टी हुआ करती थी। उसमें मैंने और एक अमरीकी लडकी ने कलकत्ते जाने का निश्चय किया। वह लडकी एटिओक कालेज की छात्रा थी और कुछ हफ्तो के लिए शान्तिनिकेतन आयी थी ।

शान्तिनिकेतन में जीवन अविश्वसनीय सरल है। ज्योही हम उसके द्वार से बाहर निकली, कई कठिनाइयाँ खडी हो गयी। लेकिन इनका मुकाबिला करना, बाहर निकल कर दुनिया देखना भी अच्छा लगा।

हमें बोलपुर से रेलगाडी में सवार होना था। लेकिन स्कूल से स्टेशन कैसे पहुँचें ? एक रिक्शावाले ने हमें होस्टल के बाहर अपने बिस्तर और सूटकेस उठाये देख लिया था। अपनी तीन पहियो की साइकिल लिए वह हमारे इन्तजार में तैयार खडा था।

हम दोनो ने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो रिक्शा मनुष्य खीचते हैं उनका हम कभी उपयोग नही करेंगे। किसी भी मनुष्य से बोझा ढोनेवाले पशु का काम नही लेंगे। लेकिन उस समय कोई चारा न था। समय तो काफी था किन्तु रास्ता लम्बा था और सामान भारी।

मेहनती और हिन्दी-भाषी बिहारी रिक्शावाले के लिए हमारे भाडे का मतलब था—शाम के समय परिवार के लिए कुछ अधिक भोजन की व्यवस्था। हम सामान के साथ रिक्शा में सवार हो गयी।

एक बजा था। दोपहर तप रही थी। धूल भरा रास्ता तय करते हुए जो

थोडे-से लोग पक्की धूलभरी सडक पर हमें दिखायी दिये वे सब आराम कर रहे थे।

कुछ ही देर में हम बोलपुर के छोटे-से भीड-भाडवाले स्टेशन पर पहुँच गये। रिक्शावाले को भाडा दिया बडी मेहनत की कमाई थी उसकी—और कलकत्ते के तीसरे दर्जे के टिकट खरीद कर हम चाय और मिठाई की दुकान पर बैठ कर गाडी की राह देखने लगीं।

भारत में रेलगाडियो में बहुत ज्यादा लोग, खास कर विद्यार्थी, तीसरे दर्जे मे ही यात्रा करते हैं। कलकत्ते की सौ मील की यात्रा के लिए हमें तीन रुपये या साठ सेंट से भी कुछ कम खर्च करना पडा।

लगभग एक घण्टे मे गाडी उदास और धुआँ उडाती हुई आ गयी मानो उत्तर के पहाडी इलाके के सफर से थक गयी हो। हम एक डिब्बे में सवार हुए जो पहले से ही खूब भरा हुआ था। उसमें सोलह मुसाफिरो के बैठने की जगह थी, लेकिन बैठनेवालो की सख्या उससे कही अधिक थी। उनमें विद्यार्थी थे, व्यापारी थे, बच्चे और औरते थी, और एक सिपाही भी था। वहाँ से चल कर गाडी रुकती है सिर्फ वर्दवान में। यहाँ चोरी चोरी चावल ले जानेवाले कुछ लोग हमारे डिब्बे में सवार हुए। वे डरे हुए थे।

पुलिस उनकी तलाश में थी। उनका हमारे डिब्बे में आना किसी को अच्छा नही लगा। वे शहर को चावल ले जा रहे थे, जहाँ उसे ऊँचे भाव पर बेचेंगे। कलकत्ते पहुँचते-पहुँचते गाडी जैसे ही धीमी हुई, वे कूद पडे और लोगो की नजर बचाकर गायब हो गये।

मेरी सहेली जरा बातूनी थी इसलिए हम संसार की समस्याओ पर चर्चा करने लगी। कलकत्ते के तीन विद्यार्थी, जो दिन भर के लिए शान्तिनिकेतन गये थे, इस चर्चा में शामिल थे। उनमें एक लडका पजाब का था और कानून पढ रहा था। बाकी दोनो डाक्टरी पढ रहे थे। इनमें भी एक पजाबी था और कानून के छात्र जैसा ही लम्बा और गोरा था। उस तरफ के लोग अक्सर ऐसे ही होते हैं। तीसरा छात्र नेपाल का था। कद उसका दोनो से छोटा था लेकिन रग ज्यादा साफ था।

अधेरा पडने ही लगा था कि दूर कलकत्ते की जगमगाती हुई बत्तियाँ दिखायी देने लगी और हम हुगली नदी का पुल पार करके सियालदा पहुँच गये।

भोजन कराने ले जायेंगे। कुछ देर मे वे आ गये और हमें खाना खाने वडे ठाठ की जगह ले गये। मैं सादे सूती कपडे और घिसे-घिसाये जूते पहने थी, जिससे मुझे उस जगह प्रवेश करने मे ज़रा लज्जा का अनुभव हुआ। यह भोजन-गृह शिकागो के शानदार कालीनो से ढँके फर्शवाले आधुनिक भोजन-गृहो से भिन्न था तो केवल इस वात मे कि इसके वेटर साफे बाँधे हुए थे और खाने की कुछ चीजे और ढग की थी।

हमारा छोटा-सा तिमजिला होस्टल कलकत्ते की एक वडी भीड-भाड वाली सडक पर था। दिन में हमारी खिडकियो के नीचे, पैदल चलने की पटरियो पर मर्दों और औरतो की भीड लगी रहती थी। लोग या तो चिल्ला-चिल्लाकर छोटी-छोटी दुकानो पर मोल-भाव किया करते थे या जल्दी-जल्दी कदम वढाते हुए और अपने साथियो के साथ शान्ति से दुनिया की हालत पर चर्चा करते हुए अपने काम पर जाते थे।

छोटी-छोटी अधेरी दुकानो में सुई और कपडे से लेकर खाना बनाने के बर्तन—सभी कुछ मिलता था। पटरियो पर खुले हुए खोन्चे लगा कर कुछ लोग खाने की तली हुई स्वादिष्ट चीजे, बगाली मिठाइयाँ, फल और मलाई की बर्फ बेचा करते थे।

कभी कभी कोई बैलगाडी अपनी धीमी चाल से गुज़र जाती थी। भारी भीड मे अपना रास्ता बनाने के लिए घटियाँ बजाती हुई खडखड करती गाडियाँ आती-जाती रहती थी। थके-हारे रिक्शावाले, मुसाफिरो की टोह मे इधर-उधर निगाह दौडाते हुए धीमे-धीमे अपनी साइकिले चलाते जाते थे। मोटरो को हमेशा जल्दी रहती थी और उनके हार्न बन्द नही होते थे।

यहाँ, शान्त शान्तिनिकेतन से कितनी भिन्नता थी। यद्यपि मुझे शान्ति-निकेतन के मन्द गति और नीरव जीवन की याद आती थी, फिर भी जो थोडे-से दिन कलकत्ते में बीते, जहाँ ज्यादातर लोग शहरी लोगो की तरह जल्दी में ही रहते हैं, उनसे एक तरह से ताज़गी ही मिली।

नही, यह वात नही है कि शान्तिनिकेतन के जीवन में परिश्रम-ही-परिश्रम हो। आनद भी उतना ही है। मझे र ब याद है कि १९५३ की फरवरी के अन्त दिन में अपने साथि [illegible] लेकर दिल्ली को रवाना

भारत का विभाजन हुए तो पाँच वर्ष बीत गये थे फिर भी पूर्वी पाकिस्तान में साम्प्रदायिक संघर्ष जारी था और उस समय हिन्दू विस्थापित बहुत बडी संख्या में पश्चिम बंगाल चले आ रहे थे। भारत पहुँचने पर उनमें से बहुतों के लिए पहले सियालदा स्टेशन ही घर का काम देता था। अपने परिवारों को लिये हुए वे तबतक वहीं फर्श पर पडे रहते थे, जबतक कि सरकार उन्हें शरणार्थी शिविरों या बस्तियों में जगह नहीं दे देती थी। हम उनके बीच से गुज़रते हुए रात की ठंडक में स्टेशन के बाहर आये।

मैं हैरान रह गयी। मुझे लगा जैसे हम न्यूयार्क पहुँच गये हों। गाडियाँ, बसें और टैक्सियाँ पों-पों करती हुई भागी जा रही थीं, और निओन बत्तियों के साइन-बोर्ड जगमगा रहे थे। बडी सडकों पर शानदार चायघरों और भोजनगृहों की कतारें लगी थीं। इस नगर की विशालता ने मेरी ज़बान में ताला डाल दिया। शान्त और सरल शान्तिनिकेतन एक दूर की चीज लगने लगा।

उन तीन छात्रों को वक्त काटने के अलावा कुछ करना नहीं था सो, वे एक टैक्सी करके हमें साल्वेशन आर्मी के होस्टल तक छोडने आये। हमने सुना था कि यहाँ रहने और खाने का इन्तज़ाम सस्ते में हो जाता है। व्यवस्था थी भी सस्ती—खाने और रहने के सिर्फ तीन रुपये रोज़। कुछ बूढी ऐंग्लो-इन्डियन औरतें, कुछ नौकरी-पेशा ऐंग्लो इन्डियन और चीनी औरतें वहाँ रहती थीं। मेरी सहेली जिस कमरे में ठहरी उसमें एक पंजाबी मास्टरनी और एक भारतीय नर्स रहती थी। मेरे कमरे में सिर्फ एक औरत थी। ऐंग्लो-इन्डियन, बूढी और गरीब।

होस्टल में ठहरनेवाली ऐंग्लो-इन्डियन औरतों को—उन अधिकांश ऐंग्लो-इन्डियनों की तरह, जिनसे मैं दिल्ली में मिल चुकी थी—अपने अंग्रेजीपन पर अजीब घमंड था और अंग्रेज बनने के लिए वे अपनी शक्तिभर सभी कुछ किया करती थीं। अगर वे भारतीय कपडे पहनतीं तो भारतीय ही लगतीं और भारतीय समाज उनका स्वागत करता, लेकिन लगता था कि यह उन्हें पसन्द नहीं है। वे ज्यादातर पश्चिमी ढंग के कपडे पहनती थीं, और बात करती थीं—सिर्फ अंग्रेजी में। नये भारत का अंग बनने में उन्हें संकोच होता था।

वे तीनों छात्र यह वादा करके लौट गये कि वे लौटकर हमें शाम का

भोजन कराने ले जायेंगे। कुछ देर मे वे आ गये और हमे खाना खाने बडे ठाठ की जगह ले गये। मैं सादे सूती कपडे और घिसे-घिसाये जूते पहने थी, जिससे मुझे उस जगह प्रवेश करने मे जरा लज्जा का अनुभव हुआ। यह भोजन-गृह शिकागो के शानदार कालीनो से ढके फर्शवाले आधुनिक भोजन-गृह से भिन्न था तो केवल इस बात मे कि इसके बेटर साफे बाँधे हुए थे और खाने की कुछ चीजे और ढग की थीं।

हमारा छोटा-सा तिमजिला होस्टल कलकत्ते की एक बडी भीड-भाड वाली सडक पर था। दिन में हमारी खिडकियो के नीचे, पैदल चलने की पटरियो पर मर्दों और औरतो की भीड लगी रहती थी। लोग या तो चिल्ला-चिल्लाकर छोटी-छोटी दुकानो पर मोल-भाव किया करते थे या जल्दी-जल्दी कदम बढाते हुए और अपने साथियो के साथ शान्ति से दुनिया की हालत पर चर्चा करते हुए अपने काम पर जाते थे।

छोटी-छोटी अधेरी दुकानो में सुई और कपडे से लेकर खाना बनाने के बर्तन—सभी कुछ मिलता था। पटरियो पर खुले हुए खोन्चे लगा कर कुछ लोग खाने की तली हुई स्वादिष्ट चीजे, बगाली मिठाइयाँ, फल और मलाई की बर्फ बेचा करते थे।

कभी कभी कोई बैलगाडी अपनी धीमी चाल से गुजर जाती थी। भारी भीड में अपना रास्ता बनाने के लिए घटियाँ बजाती हुईं खडखड करती गाडियाँ आती-जाती रहती थी। थके-हारे रिक्शावाले, मुसाफिरो की टोह में इधर-उधर निगाह दौडाते हुए धीमे-धीमे अपनी साइकिले चलाते जाते थे। मोटरो को हमेशा जल्दी रहती थी और उनके हार्न बन्द नही होते थे।

यहाँ, शान्त शान्तिनिकेतन से कितनी भिन्नता थी। यद्यपि मुझे शान्तिनिकेतन के मन्द गति और नीरव जीवन की याद आती थी, फिर भी जो थोडे-से दिन कलकत्ते में बीते, जहाँ ज्यादातर लोग शहरी लोगो की तरह जल्दी में ही रहते हैं, उनसे एक तरह से ताजगी ही मिली।

नही, यह बात नही है कि शान्तिनिकेतन के जीवन में परिश्रम-ही-परिश्रम हो। आनद भी उतना ही है। मुझे खूब याद है कि १९५३ की फरवरी के अन्त में जिस दिन मैं अपने साथियो और सहेलियो से विदा लेकर दिल्ली को रवाना

हुई, मुझे कितना दुःख हो रहा था।

मुझे तब मालूम हुआ कि मुझे शान्तिनिकेतन के अपने आनन्द-भरे दिन तो याद आयेंगे ही, परन्तु रोज़मर्रा की छोटी-छोटी बातें, क्लास में जाना, पुस्तकालय की शान्ति में किसी किताब की अलमारी के पीछे छिप कर पढ़ना, सीमेंट के स्नानागार में बाल्टी में कपड़े धोना और कपड़ों को धूप में सूखने डालना भी याद आयेगा। बराबर नंगे पैर घूमने की स्वतन्त्रता की अजीब-सी अनुभूति भी याद आयेगी—लड़कियों की हँसी-खुशी, उनकी सद्भावना और शायद उनका शोर-गुल भी।

पन्द्रह

प्रगति-पथ के गाँव

फ़रवरी के अन्त में शान्तिनिकेतन से मैं अपने घर दिल्ली को लौटी।

स्टेब, चेट, मैली और सैम स्वदेश जाने के लिए मार्च में भारत से रवाना होने वाले थे। मेरी बड़ी इच्छा थी कि अभी कुछ महीने और भारत में रहकर घूमूँ-फिरूँ तथा गाँवों के जीवन की ओर जानकारी हासिल करूँ। मेरे माता-पिता ने मुझे इसकी इजाज़त दे दी।

मुझे जुलाई में भारत छोड़ना था। इस तरह मेरे परिवार के प्रस्थान के बाद मुझे तीन महीने से ज़्यादा समय मिला। इस अवधि के लिए मुझे मित्रों से अनेक हार्दिक आमन्त्रण मिल चुके थे। दिल्ली में भी यूनाइटेड स्टेट्स इन्फर्मेशन सर्विस में हमारी एक अमरीकी मित्र—जीन जायस् काम करती थीं। उन्होंने और दिल्ली राज्य की स्वास्थ्य मन्त्रिणी डा० सुशीला नायर ने, जो स्टेब की मित्र थीं, मेरी देखभाल की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

मार्च १९५३ के अन्त से ज़रा पहले, उत्तर भारत का गर्मी का मौसम शुरू होने के बाद ही मेरा परिवार दिल्ली से रवाना हो गया। प्रशान्त सागर के पार, दूर स्वदेश की यात्रा के लिए उन्हें विदा देने को बहुत-से लोग हवाई-अड्डे पर आये थे। जहाज़ घरघराता हुआ ज़मीन से उठा और आकाश की

ऊँचाइयो को छूना हुआ दूर, बहुत दूर उड़ता चला गया। जब तक वह दृ
से ओझल नही हो गया तब तक हमारी आखें उस पर गडी रहीं।

मैं अकेली रह गयी। लेकिन मित्रो का साथ था और मैं ऐसे देश में थ
जो ससार के अन्यतम मैत्रीपूर्ण देशो में से है। मैं बहुत खुश थी कि मुझे इ
देश में, और उन लोगो के साथ, जिन्हे मैं इतना प्यार करने लगी थी, रह
का यह मौका मिला। यह तीन महीने का समय मेरे लिए प्रवास का आनन्दम
समय रहा। मुझे कई भारतीय परिवारो के बीच रहना था—ऐसे परिवारो
बीच जिनका आर्थिक स्तर और धर्म जुदा जुदा था।

कुछ दिन मुझे पुरानी दिल्ली में अपनी "अस्थाई अभिभावक" सुशील
नायर और उनके परिवार के साथ रहना था। सुशीला बहन गाधीजी क
निकटतम शिष्या हैं और बहुत समय तक उनके साथ सेवाग्राम मे रह चुकी हैं
भारत के प्रमुख चिकित्सको मे उनकी गिनती है और कई वर्षो तक वे गाधीज
की निजी चिकित्सक भी रह चुकी हैं। मन्त्रिणी बनने से पहले कुछ समय
लिए वे दिल्ली के पास एक बडी विस्थापित बस्ती में प्रमुख चिकित्सा-अधिकार
रही थी।

नयी भारतीय-सरकार के अधिकाश अधिकारियो की तरह सुशीला बहन
भी विदेश में शिक्षा पायी थी। लगभग दो वर्ष अमरीका मे रह कर उन्हो
जॉन्स हापकिन्स विश्वविद्यालय से जन-स्वास्थ्य की मास्टर और डाक्टर क
उपाधियाँ पायी थी।

सुशीला बहन दिन में बहुत व्यस्त रहती थी, इसलिए उनके साथ रहन
के दिनो में, मैं अपना ज़्यादा वक्त अपनी सखी-सहेलियो से मिलने-जुलने, नय
दिल्ली में दवाखाने में काम करने तथा बाज़ार में दुकानो की सजावट देखने म
बिताती थी। काम बहुत था और परिवार की याद करने को मेरे पास समय
ही नही था। सुशीला बहन ने ममतामयी माँ की तरह मुझे रखा। १७, रैटेन्डन
रोड का शकूर भी मेरा बहुत ध्यान रखता था। दवाखाने का काम पूरा करके
मैं करीब-करीब रोज़ उसमें और उसके अहाते में रहनेवाले दूसरे लोगो से
मिलने जाती थी।

मार्च खतम होने तक मैं सुशीला बहन के साथ रही। अब मुझे उत्तर प्रदेश
के छोटे-से कस्बे में अमरीकी मिशनरी दम्पति श्री वाइज़र और उनकी पत्नी

के यहाँ जाना था।

शान्तिनिकेतन से लौट कर मैंने अपनी एक अमरीकी दोस्त से इसकी चर्चा की थी। गांवों के प्रति मेरा आकर्षण देख कर उन्होंने मुझे सलाह दी कि मैं कुछ समय वाइज़र दम्पति और उनके सहयोगियों के साथ रहूँ, जो भारतीय ग्राम-सेवा का संचालन करते हैं।

मेरी मित्र ने मुझसे कहा—"वाइज़र-दम्पति दिल्ली से कोई सौ मील दक्षिण-पूर्व, उत्तर प्रदेश के एक छोटे-से कस्बे मढेरा में रहते हैं। तुम्हें अपने यहाँ रखने में उन्हें बड़ी खुशी होगी।" उसने बताया कि मार्च के आखिर में वह खुद मढेरा जानेवाली है और मुझे अपने साथ ले जायगी। उसने कहा, "इसके अलावा उनका एक साथी लखनऊ के पास एक गांव में अकेला काम कर रहा है। उसे सप्ताह भर के लिए कोई साथी और सहायक मिलने से हर्ष होगा। तुम मढेरा से वहाँ चली जाना।"

मैंने इस आमन्त्रण को उत्सुकता से स्वीकार कर लिया था। क्योंकि अपने गांवों के विकास के लिए भारत तेजी से जो प्रयत्न कर रहा है, उसका कुछ भाग मुझे मढेरा में और लखनऊ के पास उस दूसरे गांव में अपनी आंखों से देखने को मिला। भारतीय ग्राम-सेवा ग़ैर-सरकारी संस्था है, लेकिन वह काम वैसा ही कर रही है, जैसा सारे देश में सरकारी और दूसरे ग़ैर-सरकारी दल कर रहे हैं।

सब बातें हमारी योजना के मुताबिक होती गयीं। कुछ ही घण्टों में हम मोटर से मढेरा पहुँच गये। रास्ते के अधिक भाग में दोनों ओर उत्तर प्रदेश के पश्चिमी मैदान में नाज और दालों के हरे-हरे खेत गर्व से लहलहा रहे थे। कटाई शुरू हो चुकी थी इसलिए कुछ खेत खाली पड़े थे। हर जगह गांवों के लोग फसल काटने और नाज साफ करने में लगे थे।

श्रीमती वाइज़र ने तपाक से हमारा स्वागत किया। उन्होंने और श्री वाइज़र ने मुझ से कहा कि इसे अपना ही घर समझो और जो चाहो, करो।

मढेरा उत्तर भारत के [illegible] है, जिसे न बड़ा गांव कहा जा सकता है न छोटा शहर। इन दोनों के बीच की कड़ी है। १९५५ में भारत के [illegible] लोगों ने [illegible] बड़ी [illegible] की थी, लेकिन [illegible] अधिकांश [illegible] घर [illegible] गये। [illegible]

र मुसलमानो को एक दूसरे के विरुद्ध भडकाया जा रहा था और एक अजीब गलपन के आलम में हिन्दू अपने मुसलमान पडोसियो और मुसलमान अपने न्दू दोस्तो को मौत के घाट उतार रहे थे।

मुसलमानो को डर अपनी जान का ही नही था, वे अपने भवितव्य के लिए ; भयभीत थे, किन्तु यह भय आगे चल कर गलत निकला। बहुतो को डर ' कि भारत ऐसा राज्य बन जायगा जिसमे हिन्दुओ का जोर रहेगा और दूसरे र्मों के लोगो के साथ अन्याय होगा।

मुझे मालूम हुआ कि वास्तव मे मढेरा मे और उसके आस पास कोई ग-फसाद नही हुआ। लेकिन जैसा पाकिस्तान में हुआ, उसी प्रकार अधिकाश तर भारत मे हजारो लोग मारे गये। आज आश्चर्यजनक रूप से हिन्दू, सलमान और सिक्ख भारत में मिल-जुल कर और अधिकाश में, शान्ति के साथ ते हैं। इस आश्चर्य का बहुत कुछ श्रेय प्रधान मत्री नेहरू को मिलता है, न्होने सभी धर्मावलम्बियो मे मेल-जोल पैदा करने के लिए अथक परिश्रम या है। आज भारत के साढे चार करोड मुसलमान श्री नेहरू के अन्यतम मर्थको मे से हैं।

मढेरा की गलियो में ईंट के जर्जर मकानो के ऊँचे-ऊँचे मेहराबदार दरवाजे दिनो की कहानी सुनाते हैं, जब कम-से-कम एक वर्ग के लोग तो खुशहाल ही। श्रीमती वाइज़र की पहचान की एक स्त्री ने, जो मढेरा की ही थी, झे बताया कि उसके बचपन मे एक ऐसा जमाना था, जब उच्च वर्ग की यॉं अपने आँगन से बाहर की जमीन पर कदम नही रखती थी। जहाँ भी हे जाना होता, चार कहार उन्हे अच्छी तरह पर्दो से ढँकी हुई पालकियो में ठा कर ले जाते थे।

ज्यादातर लोगो के चले जाने से मढेरा उजाड हो गया है। ईंटो से पटी हुई गलियाँ ज्यादा वक्त सुनसान रहतीहैं। सुबह कुछ बच्चे स्कूल को और ई काम पर चले जाते हुए दिखाई देते हैं। और सुबह-शाम अजान होने पर छ मर्द नमाज के लिए मसजिद में जाते हुए दिखाई देते हैं। मकानो के रवाजो पर खुश और मुस्कराता हुआ चेहरा शायद ही कभी दिखायी देता है। ईंट की बनी इमारतो से कस्बे में वीरानेपन और बर्बादी की छाया पड ती है।

हाट का दिन जरूर अलग होता है। हर गुरुवार को दस्तकार, किसान और खरीदार मीलों दूर से आकर कस्बे के बाहर ही जमा होते हैं। खरीद-फरोख्त के बाद वे तुरन्त ही अपने घरों को नहीं लौटते। कुछ देर दोस्तों के साथ मिल-बैठ कर हँसने-बोलने का उन्हें यह अच्छा मौका मिलता है।

वाइज़र दम्पति मुसलमानों के एक पुराने मकान में रहते थे। उसमें पीछे की तरफ़ आँगन था जो तीन तरफ कमरे से घिरा हुआ था और चौथी तरफ पडोस के मकान की दीवार से। पिछली तरफ के जो दो कमरे आँगन में खुलते थे उनमें से एक मुझे मिला था। मैं आँगन में सोती थी। मकान के आगे के हिस्से में सबके उठने-बैठने का कमरा था। पोर्च, वाइज़र-दम्पति के सोने का कमरा और रसोईघर भी उसी हिस्से में था। स्नानागार एक तरफ लगा हुआ था।

मकान सादा था और वाइज़र दम्पति ने उसे वैसा ही रहने दिया था। दीवारें जर्जर ईंटों की थीं। पिछवाडे के कमरों के फर्श कच्चे थे। सोने के लिए एक चारपाई मेरे कमरे में पडी थी। मैं सोचती थी कि विभाजन से पहले जब कोई मुसलमान परिवार यहाँ रहता था, तब हालत क्या रही होगी? शायद घर की औरतें अपना ज्यादा वक्त पिछवाडे के इन दो कमरों और आँगन में ही गुज़ारती होंगी, क्योंकि इस इलाके की मुसलमान औरतें सख्त पर्दा करती हैं। पराये मर्द उनका मुँह न देख पायें इसके लिए वे बिना बुर्का ओढ़े घर से बाहर कदम नहीं निकालतीं। बुर्का सब कपडों के ऊपर ओढा जाता है। सारा बदन और मुँह उससे ढक जाता है।

पडोस में रहनेवाली दो मुसलमान बहनों से मेरी बडी जल्दी दोस्ती हो गयी। एक मेरी उम्र की थी और दूसरी जरा बडी। एक दिन मैं उनके आँगन में बैठी उनसे बातें कर रही थी कि भिश्ती का लडका पास के कुएँ से मशक भर कर लाया। जब वह मिट्टी के घडों में पानी भरने लगा, उसने आँखों को ढँक लिया ताकि घर की लडकियों और उनकी मा पर उसकी नजर न पडे।

इन लडकियों और उनके भाई को अकेलापन बडा अखरता था। उनके रिश्तेदार सारे पाकिस्तान चले गये थे। घर में या बाहर ऐसी कोई चीज न थी जो इनकी जिंदगी के बँधे बँधाये कामों से परे कोई नयापन पैदा करती। मैंने लडकियों को बताया कि मैं सटेरा के आसपास के गाँवों में काम करती रही हूँ। मैंने देखा कि वे भी अपना कुछ वक्त इस तरह के काम में लगा सकतीं

मैंने इस बात पर ज़ोर दिया कि मैं औरतों और बच्चों के बीच भी काम करती हूँ। एक शर्मायी हुई मुस्कान उनके मुख पर छायी और उन्होंने मुझे सीधा-सा उत्तर दिया कि उनके यहाँ ऐसा रिवाज नहीं है।

मढेरा में दो स्कूल हैं—एक प्राथमिक, लडके और लडकियों के लिए, दूसरा माध्यमिक केवल लडकों के लिए। एक छोटा-सा अस्पताल भी है जिसमें सामान पूरा नहीं है।

एक दिन डाक्टर की पत्नी ने अपने अस्पताल के पिछवाडे वाले मकान में श्रीमती वाइज़र को और मुझे दोपहर की चाय पर बुलाया। चाय पार्टी थी औरतों की। पोस्टमास्टर की पत्नी, स्कूल के अध्यापक की पत्नी और कस्बे की कुछ और मामूली पढी-लिखी औरतें उसमें आयी थी। बातचीत थी तो उर्दू में लेकिन थी वैसी ही जैसी अमरीका में औरतों की किसी भी पार्टी में आप सुन सकते हैं—किसके यहाँ बच्चा पैदा हुआ है? किसका देहान्त हो गया है? किसकी शादी हुई है? बाजार में सब्जी के क्या भाव हैं? वगैरह-वगैरह।

मढेरा में रह कर मैं एक भारतीय जन-स्वास्थ्य कार्यकर्त्री वायलेट के साथ आस-पास के गाँवों मे काम करती थी। भारतीय ग्राम-सेवा की सात-आठ सहयोगिनियाँ थी। उन्हीं में से एक वायलेट थी। हम सुबह जल्दी नाश्ता करके अपनी साइकिलों पर निकल जाती और पाँच गाँवों में से किसी एक में जाकर काम करती और एक बजे तक लौट आती।

जहाँ हमें ज़रूरत और कुछ सीखने की लगन दिखायी देती, वहाँ हम मदद करती। अगर किसी बच्चे की आँखें दुखती होती तो हम उसे आँखों का इलाज करना बताती। अगर कोई लडकी अपने सादे से दुपट्टे पर कढाई करने की इच्छा प्रकट करती तो हम उसे और उसकी सहेलियों को काढना सिखाती। अगर गाँव में कोई व्यक्ति हाल में—मान लीजिये—मियादी बुख़ार से मर गया होता तो हम बताती कि मियादी बुख़ार की रोक-थाम के लिए साफ-सफाई के क्या कदम उठाने चाहिए? इसी तरह के कई काम हम किया करती थी।

यद्यपि भारतीय ग्राम-सेवा को अमरीका का प्रेसबिटेरियन चर्च चलाता है, लेकिन दक्षिण भारत के मिशनरी दलों की कार्यवाहियों की तरह, उसकी कार्यवाहियों का ईसाई धर्म से सम्बन्ध इतना ही है कि वे पूर्णतया ईसाई सिद्धांतों पर आधारित हैं। सहयोगी सब-के-सब ईसाई हैं। लेकिन ईसा की चर्चा वे गाँव

वालो द्वारा जिज्ञासा प्रकट किये जाने पर ही करते हैं, या तब करते हैं जब कि किसी विशेष परिस्थिति को बाइबिल के किसी आख्यान से खूब अच्छी तरह समझाया जा सकता हो ।

इस संगठन का मुख्य उद्देश्य है—उनकी अपनी, और उनके गांवो की अधिक-से-अधिक उन्नति के लिए गांववालो की सहायता करना ।

अपने जीवन को बाइबिल के 'दस आदेशो' के सांचे में ढाल कर और ईसाई सिद्धांतो के अनुसार सहायता देकर तथा काम करके इस संगठन के सदस्य ईसाई धर्म के लिए आदर की जितनी भावना पैदा करते हैं, उतनी कोई भी मिशनरी सिर्फ धर्म-परिवर्तन पर जोर देकर नही कर सकता ।

देश भर में जिस तरह ग्राम-विस्तार के कार्यकर्त्ता काम कर रहे हैं, उसी तरह भारतीय ग्राम-सेवा के कार्यकर्त्ताओ ने भी पहले गांववालो का विश्वास पाने के प्रयत्न किये । फिर उनके खेती के औजारो और तरीको में छोटे-छोटे सुधार करने के प्रयत्न किये और फिर गांववालो की ही सहायता से सहकारी संस्थाओ, स्वास्थ्य-सेवाओ और स्कूलो की स्थापना के ये अंतिम प्रयत्न तभी किये गये, जब गांववाले इन संगठनो को सफलतापूर्वक चला सकने के लिए तैयार हो गये ।

भारतीय ग्राम-सेवा के गांवो में बहुत प्रगति हो चुकी थी । वायलेट ने गर्व के साथ मुझे गांवो में नये सीमेन्ट के कुएँ दिखाये, और गांवो के बाहर एक ट्यूब वेल (नल कूप) दिखाया—इस गहरे कुएँ में बिजली का पम्प लगा रहता है, जिससे चार सौ एकड़ जमीन की सिंचाई हो सकती है । उसने मुझे गेहूँ का एक खेत भी दिखाया जिसमें साधारण बीज पुराने तरीके से बोया गया था । उसी से लगा हुआ था दूसरा खेत—जिसमें पौधे ज्यादा ऊँचे भी थे और [illegible] भरा हुआ भी ज्यादा था । इसमें ग्राम कार्यकर्त्ताओ का लाया हुआ बढ़िया किस्म का बीज बोया गया था । सुधरी हुई किस्म के बीज के इस्तेमाल से [illegible] बराबर रह जाती थी ।

[illegible] धीरे-धीरे काम करने के लिए मजबूर थे । जुताई, बुवाई और [illegible] के लिए [illegible] नहीं थी । छोटे-छोटे सुधार उन्होंने किये । [illegible]

मैने इस बात पर जोर दिया कि मैं औरतो और बच्चो के बीच भी काम करती हूँ। एक शर्मायी हुई मुस्कान उनके मुख पर छायी और उन्होने मुझे सीधा-सा उत्तर दिया कि उनके यहाँ ऐसा रिवाज नही है।

मढेरा में दो स्कूल हैं—एक प्राथमिक, लडके और लडकियो के लिए, दूसरा माध्यमिक केवल लडको के लिए। एक छोटा-सा अस्पताल भी है जिसमें सामान पूरा नही है।

एक दिन डाक्टर की पत्नी ने अपने अस्पताल के पिछवाडे वाले मकान में श्रीमती वाइज़र को और मुझे दोपहर की चाय पर बुलाया। चाय पार्टी थी औरतो की। पोस्टमास्टर की पत्नी, स्कूल के अध्यापक की पत्नी और कस्बे की कुछ और मामूली पढी-लिखी औरते उसमें आयी थी। बातचीत थी तो उर्दू में लेकिन थी वैसी ही जैसी अमरीका में औरतो की किसी भी पार्टी में आप सुन सकते हैं—किसके यहाँ बच्चा पैदा हुआ है? किसका देहान्त हो गया है? किसकी शादी हुई है? बाज़ार में सब्जी के क्या भाव हैं? वगैरह-वगैरह।

मढेरा में रह कर मैं एक भारतीय जन-स्वास्थ्य कार्यकर्त्री वायलेट के साथ आस-पास के गाँवो मे काम करती थी। भारतीय ग्राम-सेवा की सात-आठ सहयोगिनियाँ थी। उन्ही में से एक वायलेट थी। हम सुबह जल्दी नाश्ता करके अपनी साइकिलो पर निकल जाती और पाँच गाँवो में से किसी एक में जाकर काम करती और एक बजे तक लौट आती।

जहाँ हमें जरूरत और कुछ सीखने की लगन दिखायी देती, वहाँ हम मदद करती। अगर किसी बच्चे की आँखे दुखती होती तो हम उसे आँखो का इलाज करना बताती। अगर कोई लडकी अपने सादे से दुपट्टे पर कढाई करने की इच्छा प्रकट करती तो हम उसे और उसकी सहेलियो को काढना सिखाती। अगर गाँव मे कोई व्यक्ति हाल में–मान लीजिये–मियादी बुखार से मर गया होता तो हम बताती कि मियादी बुखार की रोक-थाम के लिए साफ–सफाई के क्या कदम उठाने चाहिए? इसी तरह के कई काम हम किया करती थी।

यद्यपि भारतीय ग्राम-सेवा को अमरीका का प्रेसबिटेरियन चर्च चलाता है, लेकिन दक्षिण भारत के मिशनरी दलो की कार्यवाहियो की तरह, उसकी कार्यवाहियो का ईसाई धर्म से सम्बन्ध इतना ही है कि वे पूर्णतया ईसाई सिद्धातो पर आधारित हैं। सहयोगी सब-के-सब ईसाई हैं। लेकिन ईसा की चर्चा वे गाँव

वालो द्वारा जिज्ञासा प्रकट किये जाने पर ही करते हैं, या तव करते हैं जव कि किसी विशेष परिस्थिति को वाइविल के किसी आख्यान से खूब अच्छी तरह समझाया जा सकता हो ।

इस सगठन का मुख्य उद्देश्य है—उनकी अपनी, और उनके गाँवो की अधिक-से-अधिक उन्नति के लिए गाँववालों की सहायता करना ।

अपने जीवन को वाइविल के 'दस आदेशो' के साँचे में ढाल कर और ईसाई सिद्धातो के अनुसार सहायता देकर तथा काम करके इस सगठन के सदस्य ईसाई धर्म के लिए आदर की जितनी भावना पैदा करते हैं, उतनी कोई भी मिशनरी सिर्फ धर्म-परिवर्तन पर जोर देकर नही कर सकता ।

देश भर में जिस तरह ग्राम-विस्तार के कार्यकर्त्ता काम कर रहे हैं, उसी तरह भारतीय ग्राम-सेवा के कार्यकर्त्ताओ ने भी पहले गाँववालो का विश्वास पाने के प्रयत्न किये । फिर उनके खेती के औज़ारो और तरीक़ो में छोटे-छोटे सुधार करने के प्रयत्न किये और फिर गाँववालो की ही सहायता से सहकारी सस्थाओ, स्वास्थ्य-सेवाओ और स्कूलो की स्थापना के ये अतिम प्रयत्न तभी किये गये, जब गाँववाले इन सगठनो को सफलतापूर्वक चला सकने के लिए तैयार हो गये ।

भारतीय ग्राम-सेवा के गाँवो में वहुत प्रगति हो चुकी थी । वायलेट ने गर्व के साथ मुझे गाँवो में नये सीमेन्ट के कुएँ दिखाये, और गाँवो के वाहर एक ट्यूव वेल (नल-कूप) दिखाया—इस गहरे कुएँ में विजली का पम्प लगा रहता है, जिसमें चार सौ एकड ज़मीन की सिंचाई हो सकती है । उसने मुझे गेहूँ का एक खेत भी दिखाया जिसमें साधारण बीज पुराने तरीक़े से वोया गया था । उसी से लगा हुआ था दूसरा खेत—जिसमें पौधे ज्यादा ऊँचे भी थे और वह भरा हुआ भी ज्यादा था । इसमें ग्राम कार्यकर्त्ताओ का लाया हुआ वढ़िया किस्म का बीज वोया गया था । सुधरी हुई किस्म के वीज के इस्तेमाल से इन्कार करनेवालो की सख्या अगली फसल वोने के समय तक नही के वरावर रह गयी थी ।

कार्यकर्त्ता धीरे-धीरे काम करने के लिए मजबूर थे । कटाई, वुआई और जुताई के लिए उम्दा मशीनें नही थी । छोटे-मोटे सुधार उन्होने किये । वैलगाड़ी

का पहिया ज्यादा मज़बूत हो और ज्यादा चले, इसके लिए उसमें फौलाद का उपयोग किया गया और गाँव के लोहार को यह भाग बनाना सिखाया गया। कटाई के हँसिये का हत्था इस तरह का बनाया गया कि उससे नाज के पौधे भूमि के अधिक-से-अधिक निकट तक काटे जा सके और काटने वाले की उँगलियाँ भी घायल न हो।

गॉव में ऐसे हल बनवाये गये थे, जो वज़न में हल्के थे और धरती को ज्यादा गहराई तक खोद सकते थे। गोबर पहले ईंधन की तरह काम में लाया जाता था। अब गड्ढो में भर कर गोबर की खाद बनायी जाने लगी थी।

यो कहिए कि मेरी मित्र वायलेट तथा बाकी सहयोगियो का काम यह था कि लोगो को उनके काम करने में सहायता दें और जिन गॉवो में भी वे काम करते हो उनकी ज़रूरतो को पूरा करे। वायलेट के काम में हाथ बँटाना मेरे जीवन का एक अद्भुत अनुभव था।

मेरे मढेरा आने के लगभग डेढ सप्ताह बाद, अप्रैल के दूसरे सप्ताह में एक दिन श्रीमती वाइज़र ने सब से नज़दीक के रेलवे स्टेशन से, जो मढेरा से कोई दस मील दूर था, सुबह तडके की गाडी में मुझे लखनऊ रवाना कर दिया। बरेली में मैंने गाडी बदली और सध्या पडने से पहले ही मैं लखनऊ पहुँच गयी।

नये बने हुए आधुनिक ढग के स्टेशन से ताँगा करके मैं इसाबेला थोबर्न कॉलेज गयी। लडकियो का यह ईसाई मिशनरी कॉलेज नगर के दूसरे छोर पर है। यहाँ मुझे भारतीय ग्राम-सेवा की वह सहयोगिनी मिली, जो लखनऊ के पास फतहपुर नामक गाँव में काम करती थी। हमने जो योजना बनायी थी, उसके मुताविक मुझे एक हफ्ते उसके साथ रहना था।

हम तुरन्त ही गाँव को चल दिये। गाँव दो मील दूर था। वडी सडक पर कोई एक मील चलने के वाद हम सडक से हटकर कुछ दूर तक रेल की पटरियो के सहारे-सहारे चले। फिर पेडो में होकर कुछ दूर एक पगडडी पर चलने के वाद हम फतहपुर गाँव की गली में आ पहुँचे। सामने मिट्टी के छोटे-छोटे कच्चे मकान दीख रहे थे, हरे खीरो की एक वाडी थी और दोनो ओर एक-एक ढेकली-वाला कुआं था। गली में एक वच्चा खेल रहा था। उसने तुरन्त सव जगह खवर कर दी कि वहनजी लौट आयी हैं। खेतो मे काम करनेवाले आदमियो ने

वडे चाव से उनका अभिवादन किया। छोटे-छोटे वच्चे उन्हे बहुत प्यार करते थे और उन्होने उन्हे देखते ही खूब खुश होकर चिल्लाना शुरू किया कि "वहनजी आयी हैं, बहनजी आयी है !"

वहनजी का घर गाँव के सिरे पर था, जहाँ कि नगर से आनेवाली गली गाँव में प्रवेश करती थी। उनका घर गोबर और मिट्टी का बना हुआ था और फूस से उसे छाया गया था। गाँवो में सभी घर ऐसे होते हैं। यह घर शायद कुछ छोटा था। दो छोटे-छोटे कमरे थे—एक में दो चारपाइयाँ पडी थी—उसी में वहनजी अपनी किताबें और कपडे रखती थी, खाने के सामान की आलमारी भी, दूसरे खुले हुए कमरे में हम खाना बनाती और खाती थी।

छोटी-सी वरसाती गाँव के पुस्तकालय का काम देती थी। बहनजी के पास जो छोटी-छोटी किताबें और पत्रिकाएँ आती थी, उन्हे पढने के लिए गाँव वाले किसी भी समय वहाँ आ सकते थे। बहनजी तो यही चाहती थी कि वे उन्हे पढें। वरसाती का एक कोना ईंट की एक दीवार बनाकर अलग कर दिया था। उससे ग़ुसलखाने का काम लिया जाता था। गाँव यद्यपि शहर के बहुत पास था फिर भी उसमें बिजली नही थी। रात को अँधेरे में लोग मिल-जुलकर बैठते थे और वातें करते थे। कभी-कभी गाना-वजाना भी चलता था। मिट्टी का तेल महंगा था, इसलिए लोग अपनी लालटैन कम ही जलाते थे।

दूसरे दिन तडके ही वहनजी ने अपना काम शुरू कर दिया। हम पहले ही जिन घरो में गये, उनमें से किसी में कोई औरत बीमार थी। बहनजी ने उसे अस्पताल जाने की सलाह दी, और यह समझ कर कि शायद वह अस्पताल न जाय, उसके लिए नुस्खा भी लिख दिया, जिसकी दवा उस औरत का लडका शहर मे खरीद कर ला सकता था। अगले घर में बहनजी ने एक औरत को उसके नये वच्चे के कपडे काटने और सीने में मदद दी। एक घर में उन्होने एक लडकी को कुछ पढाया। सारे गाँव में वे ऐसे ही काम करती रही। इस भाईचारे के सम्पर्क के कारण गाँववालो को उनपर भरोसा हो गया था। अव वे जान गये थे कि वे वहनजी पर विश्वास और भरोसा कर सकते हैं और इसलिए वार-वार उनकी सलाह लेने उनके पास आते थे।

साक्षरता के लिए उन्होने गाँव में जो काम किया वह वहुत सराहनीय है। गाँव में उन्होने जिस आदमी को पहले-पहल पढ़ना सिखाया, वह अव गाँव के

स्कूल में अध्यापक है और छोटे-छोटे लडके और लडकियो को लिखना-पढना और गणित के आसान सवाल सिखाता है। बडे लडके लखनऊ शहर में पढने जाते हैं और बडी लडकियाँ, जिन्हे घर के काम-काज से फुर्सत कम मिलती है, अपने खाली वक्त मे बहनजी के पास आती हैं।

बहनजी ने इन्हे शिक्षित बनाने के लिए अनेक उपाय अपनाये थे। उनमें से एक यह भी था कि उन्होने पढे-लिखे गाँववालो से सादी और अपनी ही बोल-चाल की भाषा में अपनी कहानियाँ लिखने का आग्रह किया ताकि नये पढना सीखनेवाले उन्हे पढ सकें। बहुत-से लोग पढना सीख गये हैं, लेकिन उनके पास पढने के लिए किताबें नही हैं। अब अगर उन्हे ऐसी किताबें न मिलें, जो सरल और आनन्ददायक हो, तो जो कुछ उन्होने सीखा है, उसे वे भूल जाएंगे।

बहनजी ने सोचा कि अगर गाँव वाले अपनी ही कहानियाँ प्रकाशित करा सकें, तो उन्हे अपनी पढ़ाई-लिखाई पर गर्व भी होगा और दूसरो को लिखना-पढना सीखने के लिए बढावा मिलेगा। इसके अतिरिक्त गाँववालो की अपनी भाषा में उनकी पसन्द के ही विषयो की और उनकी समझ में आनेवाली बहुत-सी किताबे तैयार हो जाएँगी।

हर रोज़ बहनजी और मैं लगभग १२ बजे खाना खाने के लिए लौट आती थी। दोपहर की गर्मी में हम आराम करती थी। उस समय अक्सर कुछ औरते और लडकियाँ बहनजी से पढने या कपडे सीने या बातें ही करने के लिए आ जाती थी। दोपहर ढल जाने पर हम फिर गाँव के घरो में जाकर औरतो से बातें करती और उन्हे पढाती थी। अँधेरा पडने पर फिर भोजन करने के लिए आ जाती थी। इसके बाद अक्सर गाँव के कुछ आदमी बहनजी का रेडियो सुनने आ जाते थे या बच्चे घर के सामने की गली में खेलने लगते थे। रात का स्कूल भी इसी समय लगता था।

गाँव के कुछ लोगो की तो अपनी ज़मीन है। लेकिन अधिकाश लोग दूसरो की जमीन पर काम करते हैं। गाँव के थोडे-से लोग शहर में काम करने जाते हैं। जिन दिनो मैं वहाँ थी, तब गेहूँ और दालो की फसल कट चुकी थी। खीरे, लौकियाँ, काशीफल और टमाटर की लहलहाती हुई फसल बाज़ार के लिए तैयार थी।

एक दिन मेरी एक नयी सहेली राजकुमारी ने मुझसे कढाई सिखाने को कहा। हम दोनो उसके पिता के बाग के छोर पर सिंचाई के पानी की छोटी-सी नाली के किनारे जाकर बैठ गये। उसे बार-बार उठकर उन चिडियो को उडाना पडता था, जो पके हुए फलो को कुतरने आ जाती थी।

फतहपुर की औरतो को मैंने कढाई सिखाई और उन्होने मुझे टोकरियाँ वुनना। उनका यह काम इतना सुन्दर होता है जैसा कि मैंने और कही नही देखा। वे सस्ते रग खरीद कर पुआल को हरा, पीला और लाल रग लेती हैं। इन्हें वे सुन्दर-सुन्दर नमूने में बुनती हैं। इन टोकरियो को वे घर में भी इस्तेमाल करती हैं और शादी-विवाह पर या दूसरे समारोहो पर अपने मित्रो तथा सम्वन्धियो को उपहार में भी देती हैं।

वहनजी में सच्ची लगन थी। वे बहुत मेहनती थी, उनका हृदय प्रेम से परिपूर्ण था। ईसाई धर्म की सच्ची भावना जितनी मैंने उनमें देखी, उतनी अपनी पहचान के और किसी व्यक्ति में नही पायी। मैं चाहती हूँ कि जो भावना उन्होने फतहपुर में पैदा की, वैसी ही भावना भारत के हर गाँव में फैल जाय। यह भावना जीवन के प्रति वह नया दृष्टिकोण है, जिसका निर्माण आगे वढने की इच्छा पर हुआ है।

सोलह

कुएँ का पानी

उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले में, लखनऊ से दक्षिण-पूर्व सौ घरो का एक छोटा-सा गाँव है, वरखुरदारपुर। यहाँ न कभी कोई सामाजिक कार्यकर्त्ता रहा है, न कोई कृषि-विशेषज्ञ। यह गाँव किसी ग्राम-विकास कार्यक्रम के क्षेत्र मे भी नही है। यही वह गाँव है, जिसमे शकूर पैदा हुआ और बडा हुआ। यही उसका परिवार रहता है।

जब शकूर की पत्नी और उसके चार बच्चे मेरे शान्तिनिकेतन जाने से पहले गाँव से दिल्ली आये थे तब मैं उनसे मिली थी। शकूर की सबसे बडी लडकी सबरा बहुत बीमार थी। डॉक्टर से उसका इलाज कराने ये लोग शहर आये थे।

सबरा ठीक हो गयी थी और ये सब लोग सर्दियो भर हमारे मकान के पिछवाडे शकूर के छोटे-से क्वार्टर में रहे थे। अप्रैल के शुरू में सब अपने गाँव लौट गये, क्योकि कटाई के काम में सबरा और उसकी माँ की भी ज़रूरत थी। लेकिन सबरा, उसकी माँ, उसके दो भाइयो और उसकी बहन के दिल्ली से लौटने तक तो हमारी अच्छी दोस्ती हो चुकी थी और उन्होने बडे प्रेम के साथ मुझे न्योता दिया था कि मैं कुछ दिन बरखुरदारपुर जा कर उनके साथ रहूँ।

फतहपुर से—बहनजी के छोटे-से घर से—मैं ताँगा करके लखनऊ स्टेशन पहुँची। वहाँ से मैं जायस जाने के लिए गाडी पर सवार हुई। जायस एक बहुत छोटा स्टेशन है। शकूर के गाँव के सबसे निकट यही स्टेशन है। मैं हमेशा की तरह तीसरे दर्ज़े के ज़नाने डिब्बे में बैठी।

डिब्बा भरा हुआ था। ज्यादातर औरतें मुसलमान थी। उत्तर प्रदेश में बहुत-से लोग शकूर और उसके परिवार की तरह मुसलमान हैं। मुसलमान औरतो का रग अक्सर साफ होता है और वे अक्सर सुन्दर होती हैं जैसे कि भारतीय होते हैं। अपनी हिन्दू बहनो से वे पर्दे के सिलसिले में बहुत भिन्न

होती हैं, वे बडा सख्त पर्दा करती हैं। अपना बुर्का वे या तो अपने घर के अन्दर उतारती हैं या सिर्फ ऐसी जगहो में जहाँ औरतें ही औरतें हो, जैसे कि उस वक्त डिब्बे में।"

लखनऊ से जायस की दूरी सौ मील से भी कम है, लेकिन गाडी बार-बार रुकती थी और इस यात्रा मे लगभग तीन घटे लग गये। मैंने सबरा को, जो मुझसे कुछ ही छोटी थी, अपने आने का खत लिख दिया था। वह अपने ताऊ और अपनी छोटी बहन कनीज़ के साथ मुझे लेने स्टेशन आयी थी। गाडी के स्टेशन में घुसने से पहले ही मैंने उसकी लाल चुन्नी से उसे पहचान लिया। दिल्ली में वह यह चुन्नी बहुत ओढा करती थी।

हम एक छोटी-सी दो पहियो वाली घोडा-गाडी में सवार हुए। धूलभरी कच्ची सुनसान सडक पर कोई तीन मील जाने के बाद, गाडी एक सूखे लेकिन हरे-हरे आम्रकुंज में होकर मुडी और गाँव जानेवाले बैलगाडियो के रास्ते पर चल पडी। गाँव लगभग एक मील रह गया था। सूखे खेत हाल में कटाई हो जाने के कारण खाली पडे थे। लगता था कि वे बहुत प्यासे हैं और जीवन-दायिनी वर्षा का इन्तज़ार कर रहे हैं, जिसमें अभी दो महीने की देर थी।

सबरा का घर गाँव के परले सिरे पर था। मेरा खयाल हैं कि वह ईंट का मकान उसके दादा ने अपनी जवानी में बनाया था। जब हम लोग वहाँ पहुँचे, तब सबरा की माँ अपने खुले हुए दरवाज़े के सामने कुछ काम कर रही थी। उसने और उसके सबसे बडे लडके उमताज ने, जो छ बरस का था, उमग से मेरी अगवानी की। सबसे छोटा लडका, चार बरस का मुमताज़ सो रहा था। उसे जल्दी से जगाया गया। इससे उसका मिज़ाज इतना बिगड गया कि उसने उस वक्त मुझसे बात करना भी पसन्द नही किया। कुछ देर बाद जब उसकी नीद बिलकुल उड गयी, तब उसने मुझसे बात की।

परिवार में एक सदस्य और था। वे थे सबरा के बूढे दादा, लम्बा कद, कोमल स्वभाव, मुँह पर बडप्पन की छाप और लहराती हुई सफेद दाढी। सबसे बडे को छोडकर उनके सब लडके शकूर की तरह अलग-अलग शहरो में, मिलो में, कारखानो में या घरो में नौकर थे। उनके बीबी-बच्चे उनके साथ रहते थे। सिर्फ सबरा के ताऊ, जो मुझे लेने स्टेशन आये थे, अपने पिता की ज़मीन पर खेती-बारी करते थे।

सबरा के दादा थोडी-सी जमीन के मालिक हैं—खेती के लायक तीन एकड के टुकडे के। वैसे इतनी-सी जमीन कम ही है, लेकिन इस क्षेत्र के अधिकाश लोगो के पास इतनी जमीन भी नही हैं। ज्यादातर लोग भूमिहीन मजदूर हैं और उनकी मेहनत का मुआवजा उन्हे कटी हुई फसल के छोटे-से भाग के रूप में मिलता है।

सबरा के दादा के पास जमीन है। इसका यह मतलब नही कि वे रईस हैं। लेकिन अपनी जमीन और अपने दो बैल ले कर वे निश्चिन्त हैं। साधारण परिस्थितियो में उनका और उनके जैसे दूसरे जमीन-मालिको का रहन-सहन गाँव के भूमिहीन किसानो के रहन-सहन से बहुत भिन्न नही होता। लेकिन सूखे के दिनों में या फसले खराब होने के जमाने में उन्हे कम मुसीबत झेलनी पड़ती है।

सबरा के घर का बहुत बडा भाग खुले आँगन ने रोक रखा था। रात को हम उसी मे सोते थे। सुबह और शाम को ठडक के समय उसमें बैठते थे। सबरा की माँ नाज और फलो को सुबह की धूप में उस आँगन में सुखाती थी। आँगन के ही एक कोने में मिट्टी का चूल्हा था। उसमें लकडी जला कर सबरा की माँ खाना पकाती थी।

आँगन के चारो ओर छोटे-छोटे कमरे थे, जिनमें अनाज भरकर रखा जाता था। खेती के जो कुछ भी थोडे-बहुत औजार उनके पास थे, वे भी इन कमरो में ही रखे जाते थे। एक कमरा सबरा का था, उसे उस पर नाज़ था। उसमें एक चारपाई पडी थी। उसमें उसके, उसकी बहन के और उसके भाइयो के छोटे-छोटे बक्स रखे थे।

आँगन के एक कोने में नाली थी, जो बाहर गली में निकलती थी। इस नाली पर ही नहाना-धोना हो सकता था। गन्दा पानी उसी में डाला जाता था। फतहपुर की तरह यहाँ भी न पाखाना था, न बिजली, न पानी का नल। आस-पास के खेत पाखाने का काम देते थे और पास का कुआँ नहाने के लिए पानी के नल का। निकट भविष्य मे ही बिजली के आ जाने की आशा है। उम्मीद है कि उत्तर की ओर पजाब में लगभग १९५८ में भाखरा बाँध के पूरा हो जाने पर पजाब, दिल्ली, राजस्थान और उत्तर-प्रदेश के हज़ारो गाँवो को उसकी जल-

विद्युत् शक्ति और सिंचाई के पानी से लाभ होगा।

हमें बिजली के या और किसी तरह के प्रकाश की ज़रूरत ही भूले-भटके पड़ती थी। सोते हुए गाँवों को जगाना उषा के मद्धिम, कोमल प्रकाश का काम है। जब तक सूरज क्षितिज से निकले-निकले तब तक हम नहा-धोकर, बिस्तर और चारपाइयाँ उठा कर तैयार हो जाते थे तथा सबरा घर की सफाई करने लग जाती थी।

वह रोज़ कच्चे फर्श को साफ करती थी। आँगन में टोकरी के नीचे दबे रहनेवाले मुर्गी के बच्चों को दाना डालती थी। रात के जूठे और रसोई के वर्तनों को साफ करती थी और कुएँ से पानी लाती थी। इस सबको वह अपना रोज़मर्रा का काम समझती थी। उसे इस पर कभी कोई शिकायत नहीं होती थी।

छोटे बच्चे हमसे ज्यादा देर तक सोते रहते थे। मैं और सबरा जब काम में लगे रहते थे, तब वे हाथ-मुंह धोकर नाश्ता करते थे। उनकी माँ रात के बचे हुए खाने से उनका नाश्ता तैयार कर देती थी। घर के दोनों मर्द बच्चों के साथ नाश्ता करते थे, उनके बाद सबरा और मैं। सबरा की माँ सबके बाद बैठती और जो भी बचता उसमें से अपनी पसन्द की चीज़ ले लेती। फिर कनीज़ और उमताज़ स्कूल चले जाते और मर्द कटाई के बाद का काम करने।

सबरा, उसकी माँ और मैं दूसरे कामों में लग जाती। अक्सर अनाज साफ करके उसे भारी-सी हाथ की चक्की में पीसना होता था। कभी-कभी मैं और सबरा कपड़े धोती या सिलाई करती थी। और अगर कभी काम नहीं होता था तो बैठ कर बातें करती।

अक्सर पड़ोसिनें आ जाती थी, खास कर यह खबर फैल जाने के बाद कि सबरा के घर एक अमरीकी लड़की आयी हुई है। ज्यादातर तो मुझे देखने आती थी और शुरू-शुरू में उनका भाव भी मित्रता का नहीं रहता था। मेरा रंग कुछ और था, मेरे बाल हलके रंग के और कटे हुए थे। बरखुरदारपुर के अधिकांश लोगों ने ऐसी लड़की इसके पहले शायद ही कभी देखी होगी, इसलिए स्वाभाविक ही था कि बहुतों को मैं एक अजूबा लगती थी। ऐसी इन्सान नहीं, जिससे कि दुआ-सलाम हो सके या बातें की जा सकें।

गाँव के कुछ लोग विशेषतया सबरा और मेरी उम्र की लडकियाँ मुझसे मित्रतापूर्वक मिलती थी। जिस दिन में आयी उस दिन सब पडासिनो का, जो मुझे देखने आँगन में जमा हुई थी, जब मैं अभिवादन कर चुकी और उनसे मित्रता की दो बाते कर चुकी, तब सबरा ने मेरे कोहनी गडाकर धीरे से मुझसे कहा कि हम दोनो उसकी कुछ सहेलियो को लेकर ऊपर छत पर बने छोटे-से कोठार में चले।

लडकियो को भी कौतुक हो रहा था, लेकिन उनमे दोस्ती की भावना थी। उन्होने मुझसे कई सवाल किये। मैं कहाँ से आयी हूँ ? भारत क्यो आयी हूँ ? मेरे भाई-बहन हैं या नही, मेरी शादी हो चुकी हैं या नही और ऐसी ही बहुत-सी बाते।

सबने—सबरा ने भी—अपनी नाक में नथ पहन रखी थी। मुझे याद आया कि जब सबरा दिल्ली आयी थी, तब उसकी नाक में नथ नही थी। तब मैंने पूछा कि नथ पहनने का क्या कोई खास मतलब होता है ? उन्होने मुझे बताया कि लडकियाँ नथ तभी पहनती हैं, जब शादी के लायक हो जायँ—यही कोई चौदह-पन्द्रह बरस की उम्र मे।

इसके बाद वे गाँव की एक लडकी के बारे में बाते करने लगी, जिसकी जल्दी ही शादी होने वाली थी। फिर एक और लडकी की चर्चा छिड गयी जो हाल मे ससुराल से लौटी थी। उसने अपनी सहेलियो को बताया था कि जब वह खाना ठीक से नही बना पाती थी या घर का कोई काम ठीक तरह से नही कर पाती थी, तब उसकी सास उस पर बिगडती थी और कभी-कभी उसे मारती भी थी। सबरा और उसकी सहेलियो ने फैसला किया कि उन्हे सासो के पल्ले पडने से पहले ही अच्छी तरह खाना बनाना सीख लेना चाहिए।

ये लडकियाँ और उनकी माताएँ यद्यपि मुसलमान थी, फिर भी गाँव मे बुर्का नही ओढती थी। वे बस अपना सिर चुन्नी से ढक लेती थी, जैसा कि लगभग सभी वर्गो की भारतीय औरतो का रिवाज है, जिसे मैंने कभी का अपना लिया था।

सबरा, उसके परिवार और मेरे बीच होनेवाली बातचीत दिल्ली मे बोली जानेवाली हिन्दुस्तानी मे होती थी। बरगुरदारपुर के लोगो की हिन्दुस्तानी में

उर्दू कुछ ज्यादा रहती थी, जिसके कारण मेरे लिए उसे समझना कभी-कभी कठिन हो जाता था। मैं वातचीत का साधारण तारतम्य ही समझ पाती थी।

सवरा की माँ दोपहर का खाना सुबह वना लेती थी। बच्चे स्कूल से लगभग साढे दस वजे आते थे और हम खाना दोपहर होने तक खाते थे। भोजन में मुख्य चीज रोटी या चपाती होती थी। रोटी के साथ खूब मसालेदार आलू या अण्डा रहता था, कभी-कभी सब्जी भी होती थी। छोटे वच्चो को दूध मिलता था। चावल कभी-कभी खाया जाता था।

फतहपुर में शाक वहुत होता था। लेकिन बरखुरदारपुर में उसके दर्शन भी दुर्लभ थे। कभी कोई बेचने वाला शायद किसी दूर के गाँव से आ जाता था तो वह दाम इतने अधिक बोलता था, जो अधिकाश गाँववालो के बूते के वाहर होते थे। सब्जियो और फलो की तो वहुत कमी थी। इसको छोड कर भोजन सन्तोषप्रद जान पडता था। खाने की सामग्री काफी मिलती थी। जो खाना हम वरखुरदारपुर में खाते थे, उसमें यद्यपि विभिन्नता नही रहती थी—फिर भी मैं उसकी गिनती उन वढिया-से-बढिया खानो में करती हूँ, जो मैंने भारत के किसी भी कोने में खाये थे।

खाने के बाद हम दो-तीन घटे आराम करते थे। पाँच वजे सवरा हिन्दी लिखना-पढना सीखने के लिए एक पडोसी के यहाँ जाती थी। एक दिन सवरा की शिक्षिका ने गाँव में डाक्टर और वडे वच्चो के लिए स्कूल की कमी की शिकायत की। उसने मुझसे कहा—"वहन जव तुम अपनी पढाई पूरी कर लो, तव यहाँ आकर एक स्कूल और एक अस्पताल खोल देना।"

जव उसने मुझे वताया कि उसका वेटा वम्वई में डाक्टरी पढ रहा है, तव मैंने समझा कि वह अपेक्षाकृत समृद्ध है। उसके पास पैसा था और सवरा को वह पढाती ही थी। इसलिए उसमें स्कूल खोलने की भी योग्यता थी। मैंने उससे पूछा कि वह खुद क्यो नही स्कूल खोलती? इसका उसके पास कोई उचित उत्तर न था। वह अभ्यस्त थी इस वात की कि ऐसे काम वाहरवाले करें।

मुझे सदेह है कि उसका वेटा डाक्टर वन कर गांव में अपना पेशा शुरू करेगा। वह शहर की तेज जगमगाती नीओन की वत्तियाँ देख चुका है। गाँव के टिमटिमाते हुए मिट्टी के तेल के दीपक उसे अच्छे नही लगेंगे। यह भावना

स्वाभाविक है और ससार भर के युवक-डाक्टरो के मन में वसी हुई है। लेकिन आज जरूरत है कि भारत के नवयुवको में स्वार्थ-त्याग की भावना पैदा हो। और उस भावी डाक्टर मे अगर यह भावना नही जागी तो वह भी नगरो के पैसा कमानेवाले डाक्टरो की श्रेणी में सम्मिलित हो कर रह जायगा। उसका गाँव जहाँ-का तहाँ दु ख झेलता रहेगा।

सवरा की पढाई के वाद हम घूमने या मिलने चले जाते थे। सबरा के मकान के सामने और पिछवाडे आम के पेड थे, जिन पर हरी-हरी कच्ची अम्वियाँ लगी थी। उन्हे तोडने के लिए उमताज, मुमताज और दूसरे छोटे वच्चे वरावर ढेले और लकडियाँ फेकते रहते थे। कच्ची अम्बियो के कसैलेपन मे भी एक स्वाद होता है, जैसा हरे सेव मे होता है। जो गिरी हुई अम्वियाँ खाने से वच जाती थी उनकी हम बडी स्वादिष्ट चटनी बनाते थे।

मकान के पीछे-दूर तक एक तरफ को खाली खेत पडे थे, दूसरी तरफ पेडो के नीचे जगह साफ करके सबरा के दादा और दूसरे जमीन-मालिको की फसल का अनाज भूसे से अलग किया जा रहा था।

सूरज डूब जाने के वाद हम लोग भोजन करते थे, आँगन मे चारपाइयो पर विस्तर लगाते थे, और कुछ देर में दरवाजे पर कुण्डी चढा कर सो जाते थे। सबरा के ताऊ वाहर अनाज के पास सोते थे और दादा मुमताज़ के साथ छत पर।

मैं क्या वताऊँ कि उस ग्रामीण परिवार मे रहने और उसके काम में हाथ वँटाने मे मुझे कितना आनन्द आया! दु ख यही है कि मैं वहाँ और ज्यादा न ठहर सकी, मुझे चौथे दिन ही आँख का दर्दनाक रोग 'ट्रकोमा' हो गया। फतहपुर में मैंने जिन वहुत-सी दुखती आँखो को "सेलाइन वाटर" से धोने में मदद की उनमें से शायद कोई ट्रकोमा से पीडित रही होगी। और उसी से मुझे यह रोग लगा होगा।

गाँव की दो एक घरेलू दवाइयाँ आजमाने के वाद पौने तीन मील दूर जायस के छोटे-से सरकारी अस्पताल के डाक्टर को अपनी आँख दिखाने का फैसला किया। मैंने मँगनी की एक साइकिल और मँगनी का ही धूप का चश्मा लिया और सबरा के ताऊ की मदद से मैं अस्पताल पहुँची। वहाँ के

व्यस्त डाक्टर ने और रोगियों की तरह मेरा भी कुछ इलाज किया।

मुझे कहना ही पड़ेगा कि बबरा और उसके परिवार के साथ मेरे अन्तिम तीन दिन इतने आनन्द से नहीं बीते जितने कि पहले चार दिन। [illegible] में मेरी आँखें खुलती ही नहीं थीं। इसलिए मैं बबरा के कमरे के बाहर कदम भी नहीं रख सकती थी। सब से ज्यादा दुखदायी बात यह थी कि मैं घर के भी किसी काम में सहायता नहीं कर सकी थी।

मैंने बरखुरदारपुर के अपने घर और अपने [illegible] परिवार से विदा ली। मैं इस एक सप्ताह को भारत में अपने जीवन के [illegible] सुन्दर दिनों के रूप में याद करती हूँ।

बरखुरदारपुर खेती और [illegible] के आधुनिक तरीकों से बिलकुल अनभिज्ञ था। वहाँ न स्कूल थे, न [illegible] के [illegible] न [illegible] की आधुनिक नालियाँ थीं। हर रोज सुबह [illegible] भरती थी, वह कुआँ [illegible] और [illegible] ऊँचा न था। कूड़ा-करकट और [illegible] गली में [illegible] था। घरों का गन्दा पानी बहकर गली में [illegible] था। [illegible] चलाने, बीज डालने और कटाई करने का तरीका वही था, [illegible] के जमाने से—सदियों से चला आ रहा था। [illegible] बरसात की दया पर निर्भर करता था।

मैंने [illegible] व्यवस्था [illegible] गाँवों में कई [illegible] यह व्यवस्था कर [illegible] बहनजी, लेकिन इसमें पैसा खर्च होगा [illegible] लायक नहीं है यह काम।"

[illegible] योजना ने '[illegible]' [illegible] में कैसी सामाजिक क्रान्ति की [illegible]

मैंने सेवाग्राम और [illegible]

मद्रास के आसपास के गांवों में और फैजपुर में बने हुए प्रगतिशील दृष्टिकोण देखा। परन्तु बग्गुरडाम्पुर में इसका आभास तक नहीं था।

बहनजी के फैजपुर आने से पहले फैजपुर में भी इसका [illegible] नहीं था। जिन गांवों में मैं और वायलेट गये थे उनमें भी कुछ किसान ऐसे मिले जिनमें इसका अभाव था। गांव की औरतों का [illegible] के दिन [illegible] थी कि वे [illegible] हैं और शिक्षित हैं या अशिक्षित। [illegible] में "कोई नयी बात न सीखने की" भावना घर किये हुए थी।

बग्गुरडाम्पुर में ग्राम सेवकों को उन्हीं समस्याओं का सामना करना होगा, जिनका भारतीय ग्राम-सेवा के कार्यकर्ता और ग्राम-विस्तार-सेवाओं के कार्यकर्ता सारे भारत में सफलता के साथ कर रहे हैं। मूल रूप से समस्या यह है कि लोगों में किसी तरह नयी बातों को और काम करने के बेहतर तरीकों (कम-से-कम कार्यकर्ता तो यही मानते हैं) को ग्रहण करने की इच्छा नहीं है, उत्साह नहीं है।

इस उत्साहहीनता को देख कर कुछ लोग अधीर हो कर कह देते हैं—"कोई फायदा नहीं है। गांवों के लोग सीखना ही नहीं चाहते। उन्हें कुछ भी सिखाने की कोशिश करना समय नष्ट करने के बराबर है। अगर वे अज्ञान और गरीबी में ही जीना और मरना चाहते हैं, तो यही होने दो।"

बहनजी, वायलेट और भारतीय-ग्रामसेवा की दूसरी सहयोगिनियों का दृष्टिकोण अलग है। इसकी कैसे आशा की जा सकती है कि जिस शख्स के दादा-परदादा बीज बिखेर कर बोते आ रहे हैं, वह कतारों में बीज बोने को तैयार हो जायगा ? एक नियमित व्यवस्था से बीज बोने से किसान को कोई लाभ नहीं दीखता और समय इतना बुरा है कि नये और अपरीक्षित उपायों के प्रयोगों का खतरा उठाना उसे उचित नहीं लगता।

जिस व्यक्ति ने जीवन में केवल इतना सुना हो कि कोई बीमार अस्पताल गया था और वहां से जीवित नहीं लौटा, इससे अधिक उसे अस्पताल का कोई अनुभव न हो। अगर वह व्यक्ति गम्भीर से गम्भीर रोग में फँस कर भी अस्पताल न जाये तो यह स्वाभाविक ही है। लोग किसी भी राष्ट्र के हों अगर उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि अस्पताल उनकी कितनी ज्यादा सेवा कर

सकता है, तो उन्हे अस्पताल की महत्ता का विश्वास करा देना अत्यन्त कठिन कार्य है।

जिस व्यक्ति ने रोगाणुओ का नाम नही सुना है, उसके लिए जो पानी आँख से साफ दिखाई दे वह बिलकुल साफ है। यदि आप अमरीका जैसी रोगाणुओ से परिचित सभ्यता में नही पले हैं तो आपके लिए यह विश्वास करना कितना कठिन होगा कि ऐसी छोटी छोटी चीजें भी हैं, जो आँख से दिखाई नही देती और जो आपको बीमार बना सकती हैं। और कितना आसान होगा यह विश्वास कर लेना कि आपकी बीमारी देवी-देवताओ का प्रकोप है, जैसा कि चावला के लोगो ने बच्चे के मियादी बुखार से पीडित हो जाने पर माना था।

वहनजी और वायलेट आपसे पूछ सकती हैं कि क्या आपने कभी कल्पना की है कि आप लम्बे-चौडे जगलो से घिरे हुए एक छोटे-से गाँव में रह रहे हैं। आपकी दुनिया गाँव की सीमाओ में घिरी हुई है। आप कभी उस क्षेत्र से वाहर नही निकले हैं। आपने रहन-सहन के अपने ढग के सिवाय कोई और ढग नही देखा है। आपके वडे दादा जो गाँव के वुजुर्ग हैं, और वाकी वडे-वूढे सव एक ही तरीके से खेती करते हैं। आपके दादा का तरीका ही एक मात्र तरीका है। आपको शायद कभी गुमान तक नही होगा कि कोई और तरीका भी हो सकता है।

तव क्या आपको आसानी से विश्वास हो जायगा कि सिर्फ और तरीके ही नही हैं, वल्कि आपके तरीके से कही ज्यादा अच्छे तरीके भी है? यदि कोई वाहरवाला आपसे आकर कहे कि अपनी खेती के औज़ारो और तरीको मे अमुक परिवर्तन कर डालो, तो क्या उसके सुझावो पर आप सन्देह नही करेंगे? आप सुझावो पर ही नही, उस व्यक्ति पर भी सन्देह करेंगे और उसके कट्टर विरोधी भी हो जायंगे।

भारत के गाँव सदियो से सो रहे हैं। अव देश के आज़ाद हो जाने के वाद ही लोग करवट लेने लगे हैं। जो कुछ उनके सीधे सादे गाँवो से उन्हे मिलता है, उससे ज्यादा पाने की इच्छा करने लगे हैं, जरूरत समझने लगे हैं।

यह करवट वडी अद्भुत है। दूसरी पचवर्षीय योजना के अनुसार १९६१ तक कृषि, जन-स्वास्थ्य और शिक्षा-विस्तार-व्यवस्था भारत के एक-एक गाँव में पहुँच जायेंगी। सामूहिक योजनाएँ गाँवो के विकास के कार्यक्रम की जान हैं।

लगभग एक लाख गाँवो में सात करोड जनता के लिए भारत में सामूहिक योजनाओ का काम शुरू भी हो चुका है।

सिंचाई और विजली के लिए अनेक वाँधो का निर्माण करवाना पाँच सालाना आयोजन में शामिल है। यह काम ग्राम-विकास कार्यक्रम का वहुत महत्वपूर्ण भाग है। इन वाँधो की योजनाओ में सवसे वडी है उत्तर-पूर्वी पजाव की भाखरा-नगल योजना। शान्तिनिकेतन की मेरी सहेली, मनजीत के पिता इस योजना मे ओवरसीयर थे। मनजीत ने मुझे एक सप्ताह के लिए अपने घर बुलाया।

मेरा ट्रकोमा जल्दी ही ठीक हो गया और मैंने उसका आमत्रण स्वीकार कर लिया।

दस साल पहले पूर्व पजाव के उत्तर होशियारपुर ज़िले में मनजीत के घर के चारो ओर हिमालय की निचली सूखी पहाडियो का क्षेत्र वीरान पडा था। दूर-दूर पर कुछ छोटे-छोटे गाँव ही वसे हुए थे। नगल अव तो एक प्रगतिशील बस्ती है, उसमें कई स्कूल हैं, अस्पताल हैं, मन्दिर-मसजिद हैं, लेकिन तब इस योजना के पहले वहाँ नगल का नाम तक नही था।

१९४७ में विभाजन होने के बाद हजारो हिन्दू और सिख पाकिस्तान से पूर्व पजाब में आये और उस बजर भूमि से अपना जीवनयापन करने के लिए होशियारपुर ज़िले तक पहुँचे। आज अधिकाश विस्थापित विशालकाय भाखरा-नगल योजना पर इजीनियरो, ओवरसीयरो, ड्राइवरो, मैकेनिको और मज़दूरो की हैसियत से काम कर रहे हैं। नगल क्षेत्र मशीनो की आवाज़ से गूँज रहा है।

जिन दिनो मैं वहाँ थी, तब इस विशाल योजना के पहले दौर का काम पूरा होने के करीब था। जब बाँध, बिजलीघर और नहरो का जाल बिलकुल पूरा हो जायेगा, तव पजाब की चप्पा-चप्पा सूखी ज़मीन की सिंचाई होने लगेगी और उत्तरी राज्यो के हज़ारो गाँवो को जगमगा देने के लिए काफी बिजली पैदा होने लगेगी। यह ससार की सबसे बडी सिंचाई-योजना है। इसका बाँध सबसे वडा है। इसकी ऊँचाई सिर्फ हमारे हूवर बाँध से नीची रहेगी।

फिर से इस सारे-के-सारे विशाल क्षेत्र का रूप बदल जायगा। ज़मीन को

पानी मिलेगा। वह लहलहाने लगेगी—उन लोगो की मेहनत से, जो फिर से अपना जीवन वना रहे हैं।

मनजीत और उसका परिवार भी अपना समृद्ध घरबार और निश्चित जीवन छोड कर विस्थापितो की वाढ के साथ आये थे। उसके पिता को सरकारी नौकरी प्राप्त करने में सफलता मिली और बहुत-से लोगो की तरह वे नगल नहर पर ओवरसीयर नियुक्त हो गये।

वे अपने परिवार के साथ अपने काम की जगह पर ही रहते हैं। यह जगह नगल से दस मील दक्षिण नहर के किनारे है। बुलडोजर और ट्रकें वहाँ रात-दिन काम में लगी रहती थी और कभी-कभी उनके शोर से रात को नीद टूट जाती थी। उस समय उत्साह का अनुभव होता था।

जहाँ-जहाँ काम चल रहा है, वहाँ-वहाँ सुविधाजनक जगहो पर नहर के कर्मचारियो के लिए अस्थायी मकान वनवा दिये गये हैं। कर्मचारियो को विजली मुफ्त दी जाती है। वडे परिवार के लिए मकान छोटे हैं। मनजीत के घर में दो छोटे कमरे, एक भडार, एक छोटा-सा रसोईघर और आँगन है। उनकी गाय और वछडा भी आँगन में ही वँधे रहते है। जगह वडी सूनी है। कुछ थोडे-से परिवार ही वहाँ रहते हैं। सवसे नज़दीक का शहर नौ मील दूर है और सडक कच्ची तथा धूल भरी है।

मैं एक सप्ताह मनजीत के साथ रही। उसकी गर्मियो की छुट्टियाँ थी। हमारा ज्यादा समय घर के अदर पढने-लिखने, सीने-पिरोने और वातें करने में गुज़रता। एक दिन सुवह हम नगल की वस्ती में गये जो नज़दीक ही है। ज़ोरो से काम चल रहा था। योजना के लगभग सभी कर्मचारी उस वस्ती में रहते हैं। वे पहली वार इजीनियरिंग की इतनी वडी योजना के काम में लगे हैं। कुछ अमरीकी टेक्निशियन भी वस्ती में रहते हैं। वे भारतीय इजीनियरो की सहायता करने के लिए आये हुए हैं। एक रोज़ हम वाँध का प्रारम्भिक काम देखने भाखरा गये।

वडी हँसी-खुशी में एक सप्ताह वीता और मैंने मनजीत तथा उसके परिवार से विदा ली। एक लम्वा-चौडा सिख विस्थापित ड्राइवर सीमेंट की खाली वोरियाँ शहर ले जा रहा था, उसने अपनी ट्रक से मुझे स्टेशन पर छोड दिया। शाम को मैं दिल्ली पहुँच गयी।

सत्रह

महीनों बाद बेकार

बरखुरदारपुर से दिल्ली लौटने के लगभग तीन सप्ताह वाद में मनजीत के यहाँ गयी थी। यह समय मैंने दिल्ली में विताया, इसीमें अपनी आँखो का इलाज भी कराया। ये तीन सप्ताह में अपनी अमरीकी 'अभिभावक' जीन जायस के साथ रही। वे दिल्ली मे काम करनेवाले कुछ अमरीकियो के साथ पुरानी दिल्ली के एक छोटे-से फ्लैट में रहती थी।

दिन को वे काम पर जाती थी। इसलिए मेरा अधिकाश समय १७, रैंटेन्डन रोड में शकूर व दूसरे नौकरो से, जो हमारे पुराने घर के पिछवाडे अहाते में रहते थे, मिलने-जुलने में बीतता था। मैं अक्सर सुबह उनके यहाँ चली जाती थी, दिन भर वही रहती और लगभग गोधूलि के समय डाक्टर के पास जाती। मर्द लगभग आधी छुट्टी पर थे। वे भारत में नये अमरीकी राजदूत, श्री जार्ज एलेन के आगमन की तैयारियो में लगे थे।

अहाता भरा हुआ था। छोटे-छोटे मकानो में, जो शायद पन्द्रह फुट लम्बे और आठ फुट चौडे रहे होंगे, नौ परिवार रहते थे। आँगन और पाखाना सबके लिए एक था। इतनी भीड होने और धर्म तथा भाषा के अन्तर के उपरान्त भी वे सब खूब हिल-मिल कर रहते थे।

शकूर मुसलमान था। वह आजकल अकेला था। उसका परिवार गाँव लौट गया था। उसकी ज़बान उर्दू थी। किशोरलाल नवयुवक हिन्दू था। वह स्वभाव का बहुत अच्छा था और अपने परिवार के साथ रहता था। उसके चार बच्चे थे। उसकी पत्नी हमेशा हँसती रहती थी।

सुशेन रसोइये का नाम था। वह और उसकी पत्नी बौद्ध थे और पूर्व वगाल के रहनेवाले थे। सुशेन की पत्नी को मैं दीदी कहा करती थी। उसकी मातृभाषा बँगला में 'दीदी' वडी बहन को कहते हैं। वह बहुत आकर्षक औरत

थी। बालो को वह तेल डाल कर और कघी करके बिलकुल साफ रखती थी और हमेशा उसका जूडा बाँधे रहती थी।

ड्राइवर जीवन और उसकी पत्नी सिख थे। उनकी उम्र कुछ ज्यादा थी। उनका गाँव पजाब मे एक सामूहिक योजना के क्षेत्र में था। उनकी मातृभाषा पजाबी थी। जीवन की पत्नी बडे कोमल स्वभाव की दयालु स्त्री थी। मुझसे वह हमेशा माँ की तरह व्यवहार करती थी। एक दिन उसने मुझसे कहा, "जैसी मेरी बेटी, वैसी तुम।" वह पजाबी ढग की पायजामे जैसी सलवार और कमीज पहना करती थी।

दो माली थे। दोनो हिन्दू थे और दोनो के परिवार उत्तर प्रदेश के गाँवो में रहते थे। जिसकी उम्र अधिक थी उसकी पत्नी बडी हँसमुख और साहसी थी। गर्मियो का ज्यादा समय वह अहाते में ही बिताती थी। वह मोटी-मोटी साडियाँ और गाँव की औरतो जैसे भारी-भारी चाँदी के जेवर पहनती थी। जब वह चलती थी तो उसके पाँवो की भारी-भारी पायलें झनकती रहती थी। उसके पैरो में पायलो की रगड से बडी-बडी सख्त लकीरे पड गयी थी जो उसने मुझे और किशोरलाल की लडकी शान्ति को दिखायी थी।

मदन भगी (झाडू-वाला) था। उसका युवक बेटा और उसकी पत्नी उसके साथ रहते थे। मालियो की तरह वह भी गाँव की हिन्दुस्तानी बोला करता था। मदन हिन्दू हरिजन था। घर का सारा गदा काम उसके जिम्मे था—फर्श धोना, गदगी फेंकना, बरसाती में झाडू लगाना इत्यादि। अहाते के लोग उससे बुरा बर्ताव तो नही करते थे, परन्तु केवल सयोगवश नीची जाति में जन्म लेने के कारण उसे नीचा समझा जाता था।

उसी समय जबकि मैंने समझा था कि मैंने और मेरे परिवारवालो ने यह स्पष्ट कर दिया है कि हम उन सबको बराबर समझते हैं, कुछ बच्चो ने मुझसे कहा कि मैं कभी मदन के घर का न पानी पिऊँ, न खाना खाऊँ। जो थोडा-सा समय हमने भारत में बिताया उसमें हमने नौकरो के बीच बराबरी की बहुत कुछ भावना पैदा की। लेकिन जो सस्कार बचपन से घर किये हुए है, उन्हे दो वर्ष में हर्गिज नही मिटाया जा सकता।

चौकीदार निसार, शकूर की तरह मुसलमान था। शकूर की ही तरह उसका गाँव भी उत्तर प्रदेश में था। उसकी पत्नी और तीन बच्चे कुछ समय के लिए

उसके पास आकर रहे। उसका कद लम्बा था। उसके चेहरे पर दाढी थी और शीतला के दाग बुरी तरह छाये हुए थे।

धोबी का नाम बद्रीप्रसाद था। वह हिन्दू था। उसकी पत्नी और छोटे-छोटे तीन लडके उसके साथ रहते थे। वे ताजमहल के नगर आगरे के रहनेवाले थे। वह पडोस के दो-तीन परिवारो का भी काम करता था। अहाते के एक कोने में उसकी सीमेंट की बडी-सी टकी थी जिसमें वह कपडे धोया करता था। गर्मियो के दिनो में बच्चे उसमें तैरा करते थे। उसकी पत्नी कपडो पर इस्त्री किया करती थी। उसकी इस्त्री बहुत बडी और भारी थी जिसमें दहकते हुए कोयले भरे जाते थे।

अहाते के बच्चे स्वभावतया मेरे खास दोस्त हो गये। किशोरलाल की सबसे बडी तेरह बरस की लडकी सुन्दर और हृष्टपुष्ट थी। अपने छोटे भाई को सँभालने और सफाई तथा खाना पकाने का बहुत-सा काम उसके जिम्मे था। उसके लम्बे, घने और खूब काले बाल बहुत ही सुन्दर थे। बालो में रोज़ कघी करना और उनकी एक खूबसूरत चोटी गूँथना भी उसका नित्य-प्रति का काम था।

शान्ति का भाई—प्यारेलाल दस वर्ष का था। रोज़ सुबह वह मुझे बडी होशियारी के साथ सफेद कमीज़ और निकर पहने स्कूल जाने को तैयार मिलता था। दोपहर में घर लौट कर अपने स्कूल के कपडे वह हिफाजत से घर में टाँग कर, धोबी के दोनो लडको के साथ खेलने के लिए पिछवाडे की गली में निकल जाता था।

शान्ति की छोटी बहन लीला की आयु ६ साल की थी। वे बचपन के आनन्द के दिन थे। इस उम्र में बच्चे लगभग वही करते हैं, जो उनके जी में आता है। लाज-शर्म का कोई खयाल नही होता, इसलिए कपडे भी चाहे जैसे पहनते हैं। लीला इस ज़माने का पूरा आनन्द ले रही थी और उसके जीवन में उतनी ही बेफिक्री थी, जितनी शान्ति के जीवन में जिम्मेदारियाँ। तपती धूप में वह सिर्फ एक निकर पहने खेलती-फिरती थी, जिससे उसके शरीर का रग और पक्का हो गया था। किशोरलाल का सबसे छोटा लडका—अशोक कुमार छ महीने का था, गोल-मटोल, हँसमुख और स्वस्थ।

धोबी का लडका भगवानदास शान्ति के बराबर लगभग तेरह वर्ष का

था और शान्ति की ही तरह उस पर भी कई जिम्मेदारियाँ थी। धुलाई में अपने पिता की और इस्त्री करने में अपनी माता का हाथ बंटाने की। प्यारेलाल की तरह वह स्कूल जाता था और हर रोज गर्व के साथ पाठ पढकर सुनाता था। उसका कोई ग्यारह वर्ष का भाई वाबूलाल वैसा ही था, जैसे कि छोटे भाई होते हैं, जिन पर वडे भाई रोव गाँठा करते हैं।

परिवार में सवसे छोटा था दो वरस का रामदास। वह वीमार और कमज़ोर होते हुए भी वडा प्यारा था। मुझे उससे विशेष लगाव था। मेरी माँ ने वार-वार कोशिश की थी कि उसका नियमित रूप से इलाज हो। दुर्भाग्य से उसके माता-पिता आने-जाने की कठिनाई के मारे और अस्पताल के प्रति अपने अविश्वास के कारण इलाज जारी रखने को तैयार नही हुए। इसलिए वच्चा वेचारा कमज़ोर ही रहा और उसकी वाढ भी दव गयी।

कभी-कभी मेरी इच्छा होती थी कि काश, वच्चे कभी वडे होते ही नही और उन्हे वयस्क आयु के उत्तरदायित्व का भार उठाना ही न पडता। वे मुझे अपनी वडा वहन की तरह मानते थे और उनके माता-पिता वेटी या वहन की तरह। शकूर ने एक दिन मुझसे कहा—"मैं तुम्हे अपनी छोटी वहन समझता हूँ।"

इन लोगो का आतिथ्य-प्रेम असीम था। हमेशा एक परिवार मुझसे अपने साथ भोजन करने का आग्रह करता था और दूसरा दोपहर में अपने साथ आराम करने का। शान्ति के साथ मैं कई वार रात को भी रही।

उनका यत्‌किंचित् वदला चुकाने के लिए मैं वच्चो के वास्ते मिठाई और फल लाती थी। अपनी साइकिल को टैक्सी वनाकर उन्हें कभी दुकान, कभी स्कूल और कभी इधर-उधर घुमाने ले जाती थी। जव औरतें खाना वनाती, तव मैं उनके पास वैठकर देखा करती और उनकी सहायता करती। लेकिन दुनिया भर के उपहार देकर भी मैं उनसे उऋण नही हो सकती। जो कुछ मैंने उनसे पाया था, उसका वदला मैं अपने प्रेम और सद्‌भावना से ही दे सकती थी।

जहाते की भीड-भाड वाली व्यस्तता में जैसे ये दिन वीते, उसके विलकुल विपरीत एक सप्ताह मैंने गर्मियो में काश्मीर के एक वडे-से घर में गुज़ारा। सुशीला वहन के कुछ मित्रो ने, जो हर साल गर्मिया विताने के लिए

पहाड जाया करते थे, मुझे अपने साथ ले जाने का प्रस्ताव पेश किया ।

हम रेल द्वारा दिल्ली से पठानकोट को रवाना हुए । पठानकोट भारत के उत्तरी भाग मे अतिम रेलवे स्टेशन है । दूसरे दिन सुबह ही हम वहाँ पहुँच गये और मोटर से २६५ मील दूर श्रीनगर को चले । मोटर पहाडो में ऊपर-ही-ऊपर चढती हुई नौ हजार फुट ऊँचे वनिहाल दर्रे पर पहुँची और वहाँ से धीरे-धीरे श्रीनगर की घाटी में उतरी ।

शाम को हम श्रीनगर पहुँचे । मौसम ठडा था और हलकी-हलकी बूँदे पड रही थी । मकान शहर से बाहर सडक के किनारे एक पहाडी पर था । पहाडी पेडो से भरी हुई थी । मकान बहुत बडा था, लेकिन उसकी सजावट साधारण थी । उसे देखकर मुझे अपने देश के मेन नगर के गर्मियाँ बिताने के घर याद आ गये ।

मैं पजाबी परिवार के साथ थी, जो काफी समृद्ध था । विभाजन से पहले वे लोग पजाब के उस हिस्से मे रहते थे, जो अब पाकिस्तान मे है । निस्सन्देह दादाजी परिवार के मुखिया थे और यहाँ वे छुट्टी मनाने आये थे । लेकिन अपने काम में यहाँ भी व्यस्त रहते थे ।

परिवार के छोटे सदस्य दादा और दादी का बहुत सम्मान करते थे । डाक्टर साहब के सामने सब औरतें सिर ढँके रहती थी और सुबह उठकर पहले जाकर उन्हे प्रणाम करती थी । छोटे बच्चे उनके पैर छूते थे । वह जोर से शायद ही कभी बोलते थे, लेकिन उनकी आवाज रोबदार थी और यह बात तय थी कि उनकी आज्ञा-पालन करने के लिए ही होती थी ।

दादी धार्मिक प्रवृति की कोमल स्वभाववाली, ठिगनी-सी महिला थी । उनके बाल पकने लगे थे । वे सस्कृत की एम ए. थी । यह सफलता बडे मान की बात थी ।

उन दिनो परिवार में दो बहुएँ और उनके बच्चे भी थे । एक बडा लडका था, जो डाक्टरी के दूसरे वर्ष मे पढ रहा था । सोलह और सत्रह वर्ष की तीन लडकियाँ थी, जो दिल्ली में हाईस्कूल में पढती थी और दो लडके छोटे थे—एक छ साल का और दूसरा चार साल का ।

यह परिवार कट्टर हिन्दुओ का था । कट्टर परिवार रोज सुबह जल्दी

प्रार्थना किया करते हैं। अब यह नित्य-कर्म दादा-दादी ही किया करते थे। दादाजी ने मुझसे कहा, "नयी पीढी अपना धर्म-कर्म भूलती जा रही है।" रोज़ सुबह वे मुझे उसमें भाग लेने को बुलाया करते थे।

होमकुड के पास बैठ कर दादाजी हिन्दुओ के प्राचीन ग्रन्थ-वेदो से भगवान् की स्तुति के श्लोको का पाठ किया करते थे। बीच-बीच में निश्चित स्थलो पर वे, दादीजी और मैं घी, पानी और हवन-सामग्री अग्नि में डालते थे। यह क्रिया हवा, पानी और भोजन की शुद्धि की प्रतीक थी। अक्सर दिन में अनेक बार मैं दादाजी को प्रार्थना में लीन देखती थी।

काश्मीर "भारत का स्विटज़रलैंड" है। सैकडो समृद्ध भारतीय और अगणित विदेशी भ्रमणार्थी यहाँ गर्मियाँ बिताने आते हैं। दुर्भाग्य से मैं काश्मीर में चार दिन ही रही और चारो दिन बरसात होती रही। इसलिए श्रीनगर शहर को छोडकर वहाँ के दर्शनीय स्थल देखने का मुझे अवसर ही नही मिला। पठानकोट मे श्रीनगर तक के रास्ते का दृश्य ही मैंने देखा। लेकिन जो कुछ मैंने देखा उससे मुझे निराशा ही हुई। वहाँ से पजाब के गर्म प्रदेश में लौटने का मुझे दु ख नही हुआ।

काश्मीर के लोगो की दस्तकारी खासकर कढाई मशहूर है। जिस परिवार के साथ मैं ठहरी थी, उसकी औरते पोतियो के साथ अक्सर नगर में कपडे की छोटी-छोटी दुकानो पर खरीदारी करने जाती थी। एक कमरे के सामने से खुली हुई तग दुकानो में बडी बारीक कढाई की साडियाँ, शाल, ब्लाउज़ और कोट इस तरह टँगे रहते थे कि खरीदार की आँख उन पर पडे बिना न रहे। मर्द पालथी मारे फर्श या लकडी की बेंच पर बैठे हुए सिलाई करते रहते थे ताकि गर्मियो में, बाहर से आने वाले ग्राहको की माँगो को पूरा कर सकें। जब मेरी साथवालियाँ चीज़ें पसन्द करने या दुकानदार से मोल-भाव करने में लगी होती थीं, तब मैं दस्तकारो की उडती हुई सुइयो पर नज़र गडा कर उनकी कढाई के टाके सीखने की कोशिश करती थी।

अपने इस नये परिवार के साथ मैंने चार दिन बेचैनी भरे आलस्य और आराम में बिताये। सारा काम नौकर करते थे। बच्चो के लिए तो बैठ कर बातें करने और बेकार दिन काटने का ही एकमात्र काम रह गया था।

इस वातावरण मे मैं खुश नही रह सकती थी। सबरा की मेहनत जिसकी उसे कोई शिकायत नही थी, और उसके गांव के घर की ठेठ सादगी, बाउजर दम्पति, वायलेट, फतहपुर की मेरी बहनजी और भारतीय ग्राम-सेवा की अन्य सहयोगिनो का अथक कार्य, तथा १७, रैटेन्डन रोड के अहाते की भीड-भाड की हँसी-खुशी इन सबकी मीठी याद अभी मेरे मन से जरा भी नही उतरी थी। खाली बैठकर समय गँवाने मे मुझे शर्म आती थी।

अठारह

पंजाब में स्वागत

वायलेट और मेरी फतहपुर की बहनजी ईसाई थीं। शकूर का परिवार मुसलमान था। काश्मीर में छुट्टी मनानेवाला परिवार हिन्दुओं का था। मनजीत और उसके सम्बन्धी सिख थे। दिल्ली में मेरी पहचान हुई थी एक और लडकी, कवल से। वह और उसका परिवार भी सिख था। एक सप्ताह मैं उसके साथ उसके घर अमृतसर मे रही, जहाँ मैंने सिख धर्म की और जानकारी हासिल की।

कवल से मिले मुझे एक वर्ष हो गया था। तब वह दिल्ली में पढा करती थी। चूँकि मेरी कभी उससे घनिष्ठता नही हुई थी इसलिए मुझे कुछ सकोच हुआ कि उसके घर वास्तव में मेरा कैसा स्वागत होगा। परन्तु मुझे याद है कि उसका आमन्त्रण कितना प्रेम भरा था और मुझे चिन्ता करने की कोई आवश्यकता न थी। मेरे परिवार के भारत से प्रस्थान करने के थोडे समय बाद ही उसने मुझे लिखा था —

यदि तुम अमृतसर आओ तो बड़ा आनन्द रहेगा। तुम जरूर आओ और हमारे साथ ठहरो। मैं बिलकुल सच कहती हूँ और इसमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि यह हमारे लिए बहुत ही हर्ष की बात होगी। मैं तुम्हारे आने का इतजार करूँगी।

हम तुम्हारे आवास को सफल बनाने के लिए कोई कसर बाकी न रखेंगे और मैं हृदय से चाहती हूँ कि तुम जितना अधिक समय निकाल सको, उतने अधिक समय तक हमारे साथ रहो। मेरे मौसा मेरे अभिभावक हैं, वे तुम्हारे भी अभिभावक रहेंगे। मुझे विश्वास है कि तुम उन्हें पसन्द करोगी।

श्रीनगर से दो घण्टे की उडान में मैं अमृतसर पहुँच गयी। कवल और उसके मौसा पांच मील दूर हवाई स्थलपर मुझे लेने आये थे। कवल के चाचा की छोटी-सी मोटर से हम उनके ईंट के पुराने ढग के सादे मकान में पहुँचे, जो शहर के एक किनारे, छावनी की एक शान्त गली में वना हुआ था। वह एक-मजिला मकान कुछ-कुछ सवरा के मकान जैसा था—केवल वह उससे कुछ वडा था। सवरा के घर में विजली नही थी, इसमें विजली थी जैसे कि शहर के लगभग सभी घरो में होती है।

कवल ने अपने वडे और अत्यन्त ही आश्चर्यजनक परिवार के सव सदस्यो से मेरा परिचय कराया—लेकिन एक साथ नही। वह मुझे अपना घर दिखाने ले चली और जहाँ जो मिलता गया, वहाँ उसीसे मेरा परिचय कराती गयी। प्रत्येक व्यक्ति के मन में मेरे प्रति मैत्री और स्वागत की भावना उमडी पड रही थी।

कवल की परनानी—उसकी माँ की दादी—परिवार में सवसे वडी थी। नाना, नानी और नाना की वहन वुजुर्गो में शामिल थे। ये भी परिवार के लगभग स्थायी सदस्य थे।

जिन दिनो मैं अमृतसर में थी, उन दिनो नयी पीढ़ी के सदस्यो में थे कवल की मौसी और मौसा (जो मुझे लेने आये थे।) और उसके मामा और मामी तथा उनकी छोटी लडकी।

कवल अमृतसर में अपने मौसा की निगरानी में हाईस्कूल में पढती थी। कवल का अपना परिवार दिल्ली में रहता था।

कवल ने वताया कि उसका अमृतसर का परिवार अधिकाश सयुक्त परिवारो से भिन्न है। आमतौर से दादा ही परिवार के मुखिया हुआ करते हैं, लेकिन यहाँ यह पद नाना को प्राप्त था। रिवाज के मुताविक उसकी मौसी को विवाह के वाद अपने घर जाना चाहिए था, किन्तु उसके मौसा अपनी ससुराल में आ कर वस गये थे।

यह परिवार डाक्टरो का है। नाना अमृतसर के प्रतिष्ठित डाक्टर हैं। उनकी काफी उम्र है। लेकिन वे निरतर काम करते रहते हैं और पैसा उन्ही रोगियो से लेते हैं, जिनकी हैसियत पैसा खर्च करने की होती है। कवल के मामा आँखों के डाक्टर हैं और नवयुवती तथा सुन्दर मामी स्त्रियों की डाक्टर हैं।

कवल के मौसा डाक्टर हैं और अमृतसर के एक लडको के कॉलेज में लेक्चरर भी। उनकी पत्नी लडकियो के हाईस्कूल की प्रिन्सिपल हैं। उसी स्कूल में कवल डाक्टरी के कॉलेज में भर्ती होने के लिए आवश्यक शिक्षा ग्रहण कर रही थी। कवल की मौसी और मौसा के साथ मेरी सब से अधिक घनिष्ठता हो गयी।

मौसा की आयु पचपन वर्ष से अधिक है। वे बडे सज्जन और सुन्दर हैं। उनके लम्बे-लम्बे बाल सफेद होने लगे हैं, जिनपर वे पगडी बाँधते हैं। कवल और उनमें बहुत समानता है। दोनो ही वर्तमान सामाजिक परिस्थितियो के प्रति जागरूक हैं और उन्हे सुधारना चाहते हैं। अपने धर्म के प्रति दोनो को गहरी आस्था है, साथ ही वे और सब धर्मों का आदर करते हैं। बहुत सीधे-सादे, दिखावे से दूर, स्पष्ट-भाषी और ईमानदार हैं ये लोग। मुझे उनसे मिलकर बहुत खुशी हुई।

कवल से मैं अक्सर खूब बातें किया करती थी। मेरे विचारो से जितने उसके विचार मिलते थे, उतने शायद और किसी के नही। कवल अधिकाश पजावियो की तरह लम्बी, देखने में आकर्षक और हृष्ट-पुष्ट है, उतनी ही गोरी, जितनी कि मैं। उसके बाल गहरे भूरे रग के हैं, मेरे बालो से जरा गहरे। कवल ने कभी अपने बाल नही काटे और उनकी दो लम्बी-लम्बी चोटियाँ उसकी कमर तक झूला करती हैं। वह सादी सूती सलवार और कमीज पहनती है और उसकी दाहिनी कलाई मे सिखो का कडा हमेशा पडा रहता है।

कवल उत्तर प्रदेश के अमरीकी वुडस्टाक स्कूल में पढ चुकी थी। वहाँ वह फ्राक पहना करती थी। वही उसने अमरीकी बोलचाल के शब्द भी सीखे थे। जब दिल्ली में मेरी उससे भेंट हुई थी, तब वह बेफिक्र पश्चिमी रग की किशोरी थी। उसने अमृतसर में पढने के लिए दिल्ली पब्लिक स्कूल मुझसे पहले ही छोड दिया था। अमृतसर ठेठ भारतीय नगर है। उसने आसानी से यहाँ के सादगीभरे जीवन को अपना लिया और उसे ही पसन्द करने लगी।

जब मैं कवल के यहाँ थी, तब वह डाक्टरी पढने के लिए आवश्यक प्राथमिक शिक्षा ग्रहण कर रही थी। उसने हाल में मुझे लिखा है —

मैं सशस्त्र सेना के साथ रजिस्ट्रीशुदा नर्स की हैसियत से प्रशिक्षा लेने की तैयारी कर रही हूँ। मेरे परिवारवाले अब भी चाहते हैं कि मैं डाक्टरी पढ़ूँ। लेकिन मेरा खयाल है कि जब तक अच्छे परिवारो की लड़कियाँ नर्सिंग का पेशा नहीं अपनायेंगी, तब तक इस देश में यह पेशा ऊपर नहीं उठ सकेगा।

एक और पत्र में उसने लिखा है —

भारत को पूर्ण उन्नति करने के लिए इतना काम करना है कि वह विशाल-कार्य पूर्णतया असम्भव जान पड़ता है। फिर भी हम धीरे-धीरे किन्तु निश्चयपूर्वक प्रगति कर रहे हैं। मेरी बड़ी कामना है कि एक दिन मैं भारत की जनता की, अपनी जनता की, हमारी जनता की ज्यादा से ज्यादा सेवा कर सकूँ।

कवल की सादगी-भरी दिनचर्या सूरज की पहली किरण फूटने के साथ ५ बजे के पहले ही शुरू हो जाती थी। लगभग साढे सात बजे या कुछ पहले हम पराठे और दूध का नाश्ता करते थे। आठ वजे कवल स्कूल चली जाती थी और उसके मामा-मामी और मौसा-मौसी काम पर चले जाते थे। दोपहर का खाना लगभग डेढ वजे सभी के घर लौट आने पर होता था। वह खाना वडा पौष्टिक होता था और शायद इसी भोजन ने पजावियो की गिनती भारत के सवसे स्वस्थ व्यक्तियो में करवायी है।

खाने मे हमेशा वहुत सारे फल, सब्जियाँ, दूध, दही और गेहूँ की एक विशेष प्रकार की सफेद रोटी रहती थी। मैंने और परिवार वालो के साथ चपातियाँ, पराठे और पूडियाँ खायी थी। यह रोटी इन सवसे वडी होती थी और पकाई भी दूसरे ढग से जाती थी। खाना वडा स्वादिष्ट होता था और मैं विना किसी हिचक के भरपेट भोजन करती थी।

भोजन के वाद कवल और मैं दोपहर ढलने तक सोते थे या वातें करते थे। फिर दूध, विस्कुट या मिठाई का नाश्ता करके हम या तो डाक्टरी के स्कूल के मन्दिर को चल देते थे या कोई मैच देखने या सिर्फ घूमने-फिरने। रात को नौ वजे खाना खाने के समय तक हम लौट आते थे। फिर कवल अपनी पढाई करती थी और मैं भी कुछ पढने वैठ जाती थी। कभी हम सिलाई करतीं या वातें भी करती थीं और लगभग ग्यारह वजे सो जाती थीं। हम छत पर सोती, जहाँ नींद खूब अच्छी आती थी।

अमृतसर में मैं ज्यादा न ठहर सकी। फिर भी मैंने उस पुराने और भीड-भाडवाले नगर का कुछ हिस्सा देखा, विश्वविद्यालय और प्राइवेट कालेज देखे, और सिक्खों का दरबार साहब देखा जिस पर सिक्खों को गर्व है। इसके गुम्बज पर सोना चढ़ा हुआ है, इसलिए इसे 'स्वर्ण-मन्दिर' भी कहते हैं।

मेरे भारत से चले जाने के वाद कवल ने मुझे अपने नगर के वारे में लिखा—

अमृतसर अधिकाश नगरों से भिन्न है। नृत्यों और रात गये तक के आमोद-प्रमोद आदि का कृत्रिम सामाजिक जीवन यहाँ नहीं है। यहाँ के सारे वातावरण में और विशेषतया दरबार साहब के वातावरण में शान्ति और सौम्यता है। अमृतसर के लोग बडे धार्मिक हैं, परन्तु धार्मिक पागलपन उनमें नहीं है। और तुम जानती ही हो, जहाँ विश्वास रहता है, वहीं प्रेम और सुख का निवास होता है। ऐसे हैं हम लोग, सिन्थिया, यहाँ! और शायद सारे भारत में। मेरा खयाल है कि जब तक हम लोग पश्चिमी देशों की नकल नहीं करते तब तक ऐसे ही रहेंगे।

अमृतसर पजाब प्रान्त के उस उत्तर-पश्चिमी भाग में है, जिसे अब पूर्वी पजाब कहते हैं, और वह पाकिस्तान की हद से दूर नही है। अब अधिकाश सिख यहाँ पूर्वी पजाब में बस गये हैं। उनके दस गुरुओ में से नौ गुरुओ ने यहाँ और पश्चिमी पजाब में, जो अब पाकिस्तान में है, जन्म लिया और अपने धर्म का उपदेश दिया।

सिख-धर्म के अनुयायियो की सख्या साठ लाख है। यह धर्म उत्तर भारत मे ज्यादा फैला हुआ है, खास कर पजाब और दिल्ली में। वास्तव में यह हिन्दू धर्म की शाखा है और इस्लाम तथा ईसाई धर्म से कुछ मिलता-जुलता है। कवल के शब्दो में, "सब धर्मों की जिन बातो को हम अच्छा मानते हैं, उन्हे हमने ग्रहण किया है।" सिखो के ग्रथ साहब में अनेक धर्मो के गुरुओ और सन्तो की वाणी में भगवान् की स्तुति की गयी है।

गुरु नानक ने, जिनका जीवन-काल सन् १५०० के लगभग का है—भारत में हिन्दुओ और मुसलमानो के उस समय के रीति-रिवाजो के विरुद्ध यह धर्म चलाया था। उन्होने किसी नये धर्म का उपदेश नही दिया, केवल विभिन्न धर्मो के लोगो में भाईचारे के लिए आग्रह किया। उन्होने कहा—"प्रत्येक धर्म के सन्तो से प्रेम करो, सिर मुडाकर नही, लम्बी-लम्बी प्रार्थनाओ से नही, भजनो और शारीरिक कष्टो से नही, सन्यासियो के मार्ग से नही, किन्तु ससार के आकर्षणो के बीच अच्छाई और पवित्रता के जीवन से।"

उन्होने हिन्दुओ की वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया—"जात-पाँत निरर्थक है। ईश्वर मनुष्य से उसका जन्म नही पूछेगा, वह उससे पूछेगा, उसने क्या कर्म किये।" उनकी वाणी उनके एक ईश्वरवादी होने का प्रमाण देती है—"ईश्वर एक है, जिसका नाम सत है। वही स्रष्टा है; भय और राग-द्वेष से रहित, अजर-अमर, अजन्मा, स्वयसिद्ध, विराट् और कृपालु है।"

गुरु नानक के विश्वास जब नये धर्म के आधार के रूप में स्थापित हो गये तो वाद में वही आडम्बर, जिसका उन्होंने ज़ोरो से विरोध किया था, उसमें घुस आया। आज कट्टर सिख के लिए ज़रूरी है कि वह केश न कटाये, कड़ा धारण करे, कृपाण रखे (भले ही वह नाममात्र को इंच भर की हो।), कंघा लगाये (यह भी भले हो नन्हा-सा—बालों में होना चाहिए) और कच्छा पहने। घर के वाहर और पूजा की जगहों में अपने सिर को ढँके रखना उसके लिए आवश्यक है। सिख अपने लम्बे बालों में कंघी करते हैं और उनपर साफा बांधते हैं जैसा कि कवल के मौसा और मामा करते थे।

एक दिन मैं, कवल, उसके मौसा और मौसी के साथ रात को दरबार साहब गयी। दरवार साहब सिखों का और बहुत-से गैर-सिखों का भी तीर्थ-स्थान है। सिख धर्म पहले-पहल इसी के चारों ओर पनपा और फला-फूला।

मन्दिर का भवन बहुत बड़ा है और पानी से भरे एक तालाब के बीचो-बीच स्थित है। लेकिन मुझे उसकी विशालता ने प्रभावित नहीं किया। मैं प्रभावित हुई उन भक्तों के श्रद्धापूर्ण भावों से, जो वेदी को घेरे हुए थे। सिर ढँक कर हम एक छज्जे के फर्श पर बैठ गये और वाणियां सुनते रहे। छज्जे से वेदी साफ दिखायी देती थी। पूजा करनेवाले आते थे और चले जाते थे। उनका तांता लगा था। मन्दिर में आ कर सिख घुटने टेक कर फर्श पर मत्था टेकते हैं। वेदी पर ग्रंथ साहब का पाठ होता रहता है और भक्त वेदी की परिक्रमा करते हैं, इच्छा हो तो रुक कर वाणियां भी सुनते हैं।

हम बहुत देर बैठे रहे। किन्तु समय कैसे बीत गया, इसका पता ही नहीं चला। मेरी कभी-कभी इच्छा होती है कि काश मैं इस समय अमृतसर में होती ताकि हर रोज़ रात को जाकर मन्दिर में बैठ पाती।

मैं मन्दिरों में पहले भी गयी थी, लेकिन उनमें से किसी-किसी में ही मैंने शान्ति और भक्ति के ऐसे वातावरण का अनुभव किया था। कलकत्ते में मुझे ऐसी ही, किन्तु कुछ कम अंश की, पावन भावना का अनुभव हुआ था। उस मन्दिर में बड़ी भीड़ थी और गंदगी भी। भगवती काली की उसमें पूजा होती थी। हिन्दुओं का एक सम्प्रदाय काली को पूजता है। भक्त देवी की मूर्ति पर फूल और पैसे चढ़ाते थे। कुछ लोग उसके सामने बैठ कर भजन करते थे और कुछ नाचो समाधिस्थ हो जाते थे। पूजा करने वाले अपनी इच्छा के अनुसार

आते-जाते और पूजा करते थे ।

कलकत्ते का एक और मन्दिर भी हमने देखा। वह बिलकुल साफ-सुथरा और सुन्दर मन्दिर जैनो का था । जैन छोटा-सा सम्प्रदाय है । परन्तु अपनी धर्म-परायणता के लिए भारत में प्रसिद्ध हैं। ये लोग पूर्ण अहिंसा और अपरिग्रह में विश्वास करते है। छोटे-से-छोटे जीव की हत्या करना भी पाप समझते हैं। कुछ कट्टर जैन अपनी नाक और मुँह को कपडे से ढँके रहते हैं ताकि साँस लेने से कीटाणुओ की हत्या न हो । उनके मन्दिर की दीवारें, फर्श और छत कटे हुए शीशे और संगमरमर से मडित थी । मन्दिर बडा नही था, लेकिन सुन्दरता में मैने पूजा का कोई स्थल उसके जैसा नही देखा ।

अपनी नेपाल-यात्रा में हमने हिन्दुओ और बौद्धो के अनेक मन्दिर देखे। शुरू में इस पहाडी देश के लोग हिन्दू थे । ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में भारत के एक महान् राजा सम्राट अशोक ने अपने देश से पहाडो के पार यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया । कुछ ही समय में नेपाल की अधिकाश जनता बौद्ध हो गयी । अब यद्यपि दोनो धर्मो हिन्दू और बौद्ध का बहुत-कुछ सम्मिश्रण हो गया है, फिर भी ज्यादातर लोगो ने फिर से हिन्दू धर्म अपना लिया है ।

एक रोज सुबह हम लोग मोटर से स्वयभूनाथ के मन्दिर की तलहटी तक गये और लगभग छ सौ सीढियाँ चढ कर मन्दिर में पहुँचे । नेपाल में यह बौद्धो का सबसे प्रसिद्ध मन्दिर है। इस मन्दिर में तिब्बतवासियो का एक मठ है। तिब्बत से लोग इसकी यात्रा करने आते हैं। हमें इसमें प्रवेश करने दिया गया ।

छोटे-से मुख्य प्रार्थनागृह में काफी अधेरा था। लगभग बारह भिक्षु फर्श पर दो पक्तियो मे बैठे थे। उनके सामने बडी-बडी खुले हुए पन्नो की पवित्र पुस्तके रखी थी जिनमें से वे पाठ कर रहे थे। भिन्न-भिन्न उतार-चढाव की बारह ध्वनियाँ मधुर तो नही थी, परन्तु आनन्ददायिनी अवश्य थी ।

नेपाल और भारत के दूसरे मन्दिरो की तरह इस मन्दिर में भी एक छोटा-सा कक्ष था, जिसकी दीवारो पर बुद्ध की जीवनी के कुछ चित्र बने थे। (दूसरे मन्दिरो मे ये चित्र उन देवताओ से सम्बन्धित थे जिनके कि वे मन्दिर थे।) मन्दिर के इस कक्ष में बुद्ध के चित्रो के अतिरिक्त एक और आश्चर्यजनक चित्र था—बुद्ध, क्रॉस पर चढे हुए ईसा और गाधीजी का—जिस पर शीर्षक था "मानवता की सेवा।" सभी धर्मों के सम्बन्ध में ससार को यह एक शिक्षा थी ।

जून का एक सुहावना दिन था। जब मैंने कवल और अपने इस नये परिवार के हर सदस्य, नरनारी से लगा कर नोकर तक से अन्तिम वार "सत् श्री अकाल" कह कर विदा ली, तब मेरा गला भर आया। मेरे मन में उस वक्त यही कामना थी कि फिर शीघ्र ही हमारा मिलन हो। आशीर्वाद और उपदेश से भरे नानी के अन्तिम शब्द थे—"खूब पढो। ज्यादा विद्या पाओ।"

उन्नीस

घर से विदा

जून का अन्त जल्दी—बहुत जल्दी आ गया। मेरा जहाज़ जुलाई के शुरू में रवाना होने वाला था। रवानगी की तारीख की सूचना अमेरिकन एक्सप्रेस कम्पनी से किसी भी दिन आने को थी।

शनिवार, २० जून को तीसरे पहर में अहाते में अंग्रेज़ी पढा रही थी। रामदास मेरी गोद में बैठा था। तभी शकूर ने मुझे घर में बुलाया। मेरा टेलिफोन था, जो अमेरिकन एक्सप्रेस ने किया था। मेरा जहाज़ २ जुलाई को मार्सेल्ज, फ्रान्स के लिए रवाना होनेवाला था। जिनोआ, इटली से दूसरा जहाज पकड़कर मैं जुलाई के आखिर में न्यूयॉर्क पहुँच सकती थी।

अगले दिन सुबह अपने मित्रों से आखिरी बार विदा लेकर मैं बम्बई की गाड़ी में सवार हुई। दिल्ली मेरा घर था। उससे और उसके लोगों से बिछुड़ने का मुझे बड़ा दुःख हुआ।

बम्बई के रास्ते में मैंने एक दिन के लिए एक पारसी परिवार के साथ, जो मेरे काश्मीर के मेजबान-परिवार का मित्र था, ठहरने की योजना बनायी थी। उस परिवार का घर बम्बई राज्य के मराठी-भाषी उत्तर-पूर्वी भाग में, हैदराबाद की सीमा से लगे हुए नगर जलगांव में था।

दोपहर ढलने के बाद दक्षिण-पश्चिम जानेवाली मेरी गाड़ी ने विन्ध्याचल के घोराट इलाके में प्रवेश किया। अगले दिन सुबह झुटपुटे में हम जलगांव पहुँचे। लगभग मेरी उम्र का एक लड़का और एक लड़की मुझे लेने स्टेशन आये थे।

दोनो मेरे मेज़बान के बच्चे थे ।

इस पारसी परिवार के साथ दिन बडे आनन्द से गुज़रा । मेरे मेज़बान, जो कुटुम्ब के पिता थे, पहले शराब की दुकान चलाया करते थे । बम्बई राज्य मे शराब-बन्दी लागू हो जाने मे उनका व्यापार बन्द हो गया था। उनकी दुकान की इमारत को तब होटल का रूप दिया जा रहा था ।

परिवार के सभी सदस्य थोडी-बहुत अंग्रेज़ी बोलते थे । उनकी भाषा मराठी थी, जो हिन्दी से मिलती-जुलती भाषा है । उनका धर्म पारसी था । पारसी पैगम्बर ज़रदुश्त के अनुयायी हैं । ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व ज़रदुश्त ने ईरान मे अपना मत चलाया था । उसी मत के ये लोग थे । अत्याचारो के कारण इन लोगो ने भागकर भारत के मैत्रीपूर्ण वातावरण मे शरण ली और पारसी सम्प्रदाय स्थापित किया । आज यह छोटा सा सम्प्रदाय मुख्यतया बम्बई क्षेत्र मे बसा हुआ है ।

अधिकाश पारसी खूब पढे-लिखे हैं और पश्चिमी ढग अपना चुके हैं । अनेक सफल व्यापारी हैं । पारसी पुरुषो का पहनावा बिलकुल अलग है । मैंने बम्बई मे जो पारसी देखे—वे कोट, पतलून और एक खास तरह की गोल टोपी पहने और हाथ में छडी लिए एक खास शान के लोग दिखायी देते थे ।

बरसात का मौसम अभी दिल्ली मे तो शुरू नही हुआ था, लेकिन बम्बई में जारी हो गया था । उत्तरी हैदराबाद की अनेक छोटी-छोटी नदियो में बाढ आ रही थी । मैं और मेरे मेज़बान साइकिलो पर जलगाँव के बाहर आठ मील का रास्ता तय करके एक ऐसी ही नदी देखने गये । गाडियो के पार होने के लिए नदी के बीच, कुछ उठी सडक-सी बनी थी । साधारण समय में इससे काम चल सकता था, लेकिन बरसात के दिनो में वहाँ तीन फुट तक पानी चढ आता था । जब हम वहाँ पहुँचे, तब चौबीस घटे पडे रहने के बाद कुछ लारियाँ और बसें पुल पार कर रही थी, बहुत-सी अभी खडी ही थी । पार आनेवाली गाडियाँ तेज़ बहाव में धीरे-धीरे आगे बढ रही थी । उनके पहिये लगभग पानी में डूबे हुए थे ।

हमारी तरफ से दो किसानो ने लगभग आठ गाये और कुछ बछडे पार ले जाने के लिए नदी में उतारे । उनमें आधे से ज्यादा पानी की धार मे बह चले और थोडी देर बाद कुछ इस किनारे लगे, कुछ उस किनारे ।

मेरे मेज़बान ने मुझसे कहा—"तीन महीने की गर्मी के बाद बरसात का

उत्सुकता से इन्तजार किया जाता है। किन्तु साधारणतया बरसात सूखी नदियो को तूफानी नदियाँ बना देती है और बम्बई नगर के पास के नीचाई वाले भू-भाग में बाढ ला देती है। यहाँ लगभग हर रोज पानी बरसता है और डेढ महीने का बारिश का मौसम खत्म होने से पहले-पहले यह नदी तथा इस क्षेत्र की ऐसी दूसरी नदियाँ पानी से लबरेज़ हो जायंगी। फिर भी वसन्त में शायद सूखा ही पडेगा।"

मेरे मेजवान की लडकी—पेरीन ने मुझे जलगाँव घुमाया। खासे बडे शहर की सभी सुविधाएँ इस नगर में हैं। औरतो और बच्चो का एक पार्क हैं, एक सिनेमाघर है और बाजारो में जरूरत की सभी चीजें मिलती हैं। नगर में कपडे की दो मिलें हैं। इनमें से एक पेरीन के घर के सामने ही है।

पेरीन की छोटी वहन जलगांव की प्राथमिक शाला में पढती थी। इस प्राथमिक शाला के अतिरिक्त नगर में एक माध्यमिक शाला है, एक सरकारी और एक गैर-सरकारी हाईस्कूल है और एक कृषि-विद्यालय है। तीन वजे के लगभग स्कूलो की छुट्टी होने से सडको पर बच्चो की भीड हो जाती थी। कही छोटे-छोटे वच्चे एक-दूसरे का हाथ थामे चले जाते थे। कही बच्चे भागते-दौडते, एक-दूसरे से छेड-छाड करते निकलते थे। साफ-सुथरी किशोरियो के हाथ में कितावो के मोटे-मोटे वस्ते रहते थे।

दोपहर का भोजन करके पेरीन और मैं सडक की भीड-भाड देखने के लिए मकान की दूसरी मजिल के छज्जे पर जा पहुँची। गुजरनेवालो में ज्यादा लोग मराठी थे। नौ-नौ गज की हरी, लाल, नीली या बैंगनी साडियाँ सफाई के साथ बाँधे हुए कुछ औरतें पेरीन ने मुझे दिखायीं। बडी आज़ादी के साथ वे चली जा रही थी। उन्होने जिस ढग से साडियाँ बाँध रखी थी, वह दिल्ली की औरतों के ढग से जुदा था, और उतना सुन्दर भी नही था।

कुछ गुजराती महिलाएं भी थी। उन्होने छ -छ गज की साडियाँ एक तीसरे ही तरीक़े से बांध रखी थी। उत्तर मध्यभारत की मारवाड़ी औरतें जबर्दस्ती घूँघट निकाले हुए थी और खूब जेवर पहने थी। वर्तमान पश्चिम पाकिस्तान के दक्षिणतम भागो से आयी हुई सिंधी महिलाओ ने पर्दा छोड़ दिया है, परन्तु उनकी दादियो को कठोर पर्दे में रहना पडता था। ये महिलाएँ पजावी औरतो की-सी सलवार व कमीज़ से तुरन्त पहचान ली जाती थी।

पुरुषो के पहनावे से उनके प्रान्त का ऐसा साफ पता नही चलता था। कभी-कभी कोई पारसी या कट्टर अहिंसावादी जैन सम्प्रदाय का कोई सदस्य नगे पैर गुजर जाता था।

रात के भोजन के कुछ देर बाद मैं बम्बई की गाडी में सवार हुई और सुबह तडके ही बम्बई के एक उपनगर, दादर में पहुँच गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय रहन-सहन के प्रयोग (एक्सपेरिमेण्ट इन इटरनेशनल लिविंग) के द्वारा मैंने अपने जहाज के रवाना होने तक एक गुजराती दम्पति के यहाँ ठहरने का इन्तजाम कर लिया था। ये दम्पति दादर के पास बम्बई के एक और उपनगर माटुंगा में रहते थे। कई फ्लैटो वाली एक इमारत में तीन कमरो का एक फ्लैट उनका घर था।

अपने इन नये मित्रो से मिलते ही मुझे इसमें तो कोई सन्देह नही रहा कि मुझे अपने यहाँ रखने में उन्हे बडी खुशी है। मालती बहन सुन्दर और हँसमुख महिला है। घर का कामकाज करने और रसोई बनाने के अलावा वह एम. ए में अर्थ-शास्त्र की छात्रा है। उसके पति नवयुवक वकील हैं और बम्बई के उच्च-न्यायालय मे वकालत करते हैं।

बम्बई में गर्मी के कारण काम और स्कूल का समय ग्यारह बजे सुबह से लगभग सात बजे शाम तक रहता है। इसलिए मालती और उसके पति की दिनचर्या उन अधिकाश परिवारो से भिन्न थी, जिनके साथ मैं अब तक रही थी। वे रोज सुबह छ बजे थोडा-सा दूध पीते या कुछ फल खाते। फिर मालती भोजन बनाती। उसके पति दस बजे काम पर जाते थे और हम लोग इसके पहले ही भोजन कर लेते। जिन दिनो मैं मालती के यहाँ थी, उन दिनो उसकी क्लासें नही लग रही थी। इसलिए भोजन करके हम अक्सर बम्बई के दर्शनीय स्थान देखने या मालती के मित्रो और सम्बन्धियो से मिलने-जुलने या खरीदारी करने निकल जाते थे। पाँच बजे हम जहाँ भी होते, वहाँ जरा डट कर चाय पीते और फिर घर लौट आते ताकि मालती खाना बना ले।

खाना बडा स्वादिष्ट होता था। मुझे जब भी मौका मिलता, मैं उसका खाना पकाना देखा करती थी और उससे मैंने कई बाते सीखी। वह और उसके पति पक्के शाकाहारी हैं। वे अडे भी नही खाते। मालती गुजराती हिन्दू है और उसके

पति कट्टर जैन परिवार के हैं। मालती ने मुझे बताया कि रसोईघर के तिलचट्टे (काक्रोच) मारने की अनुमति भी उसने अपने पति से काफी बहस के बाद प्राप्त की।

क्षेत्रफल और आबादी के लिहाज से बम्बई भारत का दूसरा बडा नगर है। किसी विशेष वर्ग के लोगो का क्षेत्रीय नगर यह नही है, बल्कि गुजराती-भाषी प्रदेश की दक्षिणी और बम्बई तथा हैदराबाद राज्यो के मराठी-भाषी प्रदेश की पश्चिमी और उत्तरी सीमा है। अधिकाश आबादी गुजराती और मराठी-भाषी लोगो की है। लेकिन बम्बई में कई दूसरी भाषाएँ बोलनेवाले, कई धर्मो के और कई प्रान्तो के लोग रहते हैं।

विभाजन के बाद बम्बई ने विस्थापितो का हृदय से स्वागत किया और अब उसकी सडको की भीड भाड में सिन्धी, हिन्दू और सिख-पजाबी भी अपने दक्षिणी भाइयो के साथ कधा मिला कर चलते हैं। मध्य भारत से मारवाडियो और उत्तर प्रदेश के ग्रामीणो के, जो यहाँ काम की तलाश में आये, छोटे-छोटे समुदाय हैं।

बम्बई में पजाबी आपको ट्रको और बसो को चलाते हुए तथा गैरेजो में मैकेनिको का काम करते हुए मिलेंगे। यहाँ का मजदूर-वर्ग, जिसका अधिकाश बम्बई की अनेक कपडा मिलो में नियुक्त हैं और बम्बई का बुद्धिजीवी वर्ग—लेखक, शिक्षक और विद्वान्—मुख्यतया मराठी हैं। अधिकाश दुकानें और व्यापार गुजरातियो और पारसियो के हाथ में हैं।

विभाजन के समय भयकर दगे होने के बावजूद बहुत-से मुसलमान बम्बई में बसे हुए हैं। ज्यादातर पारसी यही रहते हैं। कुछ ईसाई और सिख भी हैं, जैसे कि भारत के हर नगर में पाये जाते हैं।

नगर की भीड-भाड वाली सडको पर भिन्न-भिन्न तरह के रीति-रिवाज और पहनावे वाले तथा भाषाएँ बोलने वाले इतने लोग गुज़रते हैं कि उनकी चहल-पहल देखते ही बनती है। लेकिन आपको यह पता नही लगेगा कि इस विशाल देश के किस भाग में आप आ गये हैं।

बम्बई में जनसाधारण की भाषा हिन्दुस्तानी है। राष्ट्रभाषा होने के कारण इसने इस नगर में भी, जो हिन्दुस्तानी-भाषी क्षेत्र नही है—यह स्थान प्राप्त किया है। ट्रामो और बडी-बडी दो मजिली बसो में, जिनसे मालती के साथ में

इधर-उधर आया-जाया करती थी—कण्डक्टर किराया हिन्दुस्तानी में मांगते थे। ज्यादातर दुकानों में दुकानदार से मोल-तोल हिन्दुस्तानी में होता था। और उस भीड-भाड वाले बाज़ार में, जहां से मालती रोज़ घर लौटते वक्त सध्या के भोजन के लिए शाक-भाजी खरीदती थी, चीज़ों का भाव-ताव हिन्दुस्तानी के द्वारा ही होता था।

मालती और उसके पति ने मेरी वडी आवभगत की। मुझे नगर की दिलचस्प चाज़ें दिखाने के लिए उन्होने जो कष्ट किया, उसके लिए हमेशा में उनकी आभारी रहूँगी। हम लोगो का सयोग एक सप्ताह से ज़रा ही ज्यादा समय के लिए हुआ, फिर भी मुझे लगा कि भारत से विदा होने में शोक और हर्ष का जो मिला-जुला अनुभव मुझे हो रहा था, उसे वह अच्छी तरह समझ गयी। मुझे खुशी थी कि भारत में मेरा अन्तिम सप्ताह उनके साथ वीता।

मगलवार, २ जुलाई की सुवह वडी सुहावनी थी, ऐसी सुहावनी जिसकी कि मुझे वरसात के दिनो में हर्गिज आशा नही थी। मैंने सोचा मुझे भारत में सूर्योदय देखने का अवसर फिर कब मिलेगा ?

दस वजे में बन्दरगाह पर पहुँच गयी ताकि एक वजे जहाज़ के रवाना होने तक मैं आम सरकारी कार्यवाहियो से छुट्टी पा जाऊँ। अपने पासपोर्ट की जाँच कराने के लिए कतार में खडे होकर मैं अपना दुःख भूल गयी। अब सवसे ज्यादा मुझे उस अनिश्चित भविष्य के प्रति शका थी। जहाज़ के सफर की लम्बी-लम्बी घडियो मे मुझे वार-वार खयाल आया कि इस शका की तह में भारत से विदा होने का मेरा गहन शोक छिपा था उस देश से विदा होने का, जहाँ मैंने बहुत-कुछ सीखा था, और जिसके लोगो के प्रति मेरे हृदय में अपनत्व की भावना घर कर गयी थी। लेकिन विदाई के क्षणो में मैं न तो उसे स्पष्ट समझ सकी थी, न व्यक्त ही कर सकी थी।

दोपहर को, मैं उस विशाल ब्रिटिश जलपोत में सवार हुई। एक बजने के थोडी देर बाद बन्दरगाह मे रास्ता साफ हो गया और जहाज धीरे-धीरे अरब-सागर में चल पडा। मैं चुपचाप टकटकी लगाकर बम्बई का किनारा तब तक देखती रही, जब तक कि वह आंखो से ओझल नही हो गया।

बीस

उपसंहार

मैं भारत को अपना दूसरा घर मानती हूँ। एसेक्स के अतिरिक्त केवल वही मुझे प्रबल रूप से अपनत्व का अनुभव हुआ। मुझे आशा है कि एक दिन कालेज की पढाई पूरी करके और जन-स्वास्थ्य परिचारिका की विशेष प्रशिक्षा प्राप्त कर मैं अपने दूसरे घर लौटूँगी।

एक दिन जब मैंने सुमन से भारत और भारत के लोगो के प्रति अपने स्नेह की बात कही, तो वह मुझसे बोली—"तुम अभी छोटी हो और इस उम्र में सब चाहते हैं कि कोई उन्हें प्यार करे, उन्हें लगे कि किसी को उनकी जरूरत है, कोई उनकी क़द्र करता है। हमने तुम्हे अपना बनाया और तुम्हे प्यार किया। हमने अपने घरो में तुम्हारा स्वागत किया। इर्विन अस्पताल और परिचर्या-गृह में तुम्हारी आवश्यकता थी और तुम्हारी क़द्र की गयी। मैं पूछती हूँ कि तुम्हारा लगाव सचमुच भारत से है या प्यार और क़द्र की उस भावना से, जो हमने तुम्हारे प्रति दिखायी।"

मैं समझती हूँ कि भारत के लिए मेरा प्रेम उन लोगो के प्रति आभार की भावना मात्र नही है, जिन्होने मेरे प्रति आत्मीय-सा व्यवहार किया।

सभवत मेरे इस आकर्षण का मुख्य कारण वह सरल जीवन है, जिसका मैंने दिल्ली, चावला, शान्तिनिकेतन, मढ़ेरा, फतहपुर, बरखुरदारपुर, नगल और अमृतसर में अनुभव किया।

उसका कुछ भाग उस सौंदर्य और अनेकरूपता से जुडा है, जो मैंने अपने आसपास, खास कर गांवो में देखी।

कुछ भाग उस प्रशसा से जुडा है, जो मेरे मन में यह देख कर जागी कि यह देश अपने देशवासियो को एक सुन्दरतर जीवन की ओर ले जाने को कृत-सकल्प है।

परन्तु उसका मुख्य भाग जुडा है—सुमन, शकूर, नलिनी, कवल तथा ऐसे अनेक दूसरे मित्रो से। इन मैत्रियो से मैंने यह तो सीखा ही कि पूर्व और

पश्चिम का मिलन सभव है। यह भी समझा कि भारत की लडकी और अमरीका की लडकी में इतना अतर नही होता जैसा कि अक्सर सोच लिया जाता है। मैंने अनुभव किया कि अपने अतर की गहराइयो में मेरे मित्र और मैं बहुत-कुछ समान ही है।

क्या यह बात सभी लोगो के लिए सही नही है ? मुझे तो लगता है कि लोगो के बीच अतर केवल ऊपरी सतह का होता है। हमारा रग, हमारी भाषा, हमारा भोजन, हमारा पहनावा आदि का अन्तर केवल बाहरी बातो में होता है।

सास्कृतिक स्तर पर भी हममें अन्तर है। भारत और अमरीका में जीवन की शैली भिन्न-भिन्न है। उनके काम के तरीक़े अलग हैं, उनके खेल अलग हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा और कृषि के अमरीकी माप फिलहाल भारत पर लागू नही हो सकते। यहाँ तक कि एक सस्कृति के आतरिक सत्य—उसके भले और बुरे—के मापदड दूसरी सस्कृति के मूल्याकन में व्यवहृत नही हो सकते।

अक्सर ये बाहरी दिखावे के अन्तर, रहन-सहन और काम-काज के ही नही, सोचने-विचारने के भी विभिन्न तरीके और मापदण्ड आपसी सम्पर्क, समझ-बूझ और मैत्री के मार्ग में अपरिमेय बाधाओ का रूप धारण कर लेते हैं। किन्तु इस भौतिक तथ्य के अतिरिक्त कि हम सब मानव हैं, क्या कोई ऐसी अधिक महत्वपूर्ण चीज़ नही है, जिसमें दुनिया के सभी लोग अपनी-अपनी विभिन्न सस्कृतियों के उपरात भी बराबरी के हिस्सेदार हैं ? क्या कुछ सर्वव्यापी दृष्टिकोण और भावनाएँ ऐसी नही हैं, जो हम सबके लिए समान हैं ? क्या एक ऐसी महान और मूलभूत समानता विद्यमान नही है, जो ससार के लोगो के भेदो से कही ज्यादा महत्वपूर्ण है ?

मुझे लगता है कि वह अवश्य है, और मुझे विश्वास है कि उसी के आधार पर, सास्कृतिक सीमाएँ पार करके सच्ची मैत्री की स्थापना की जा सकती है।

इस बात का ज्ञान और इसकी चेतना कि मानव जाति के अतरस्थ स्वप्न लगभग समान ही हैं, विश्व में पारस्परिक समझ और सहानुभूति को प्रगाढ बनाने में बडी सहायक हो सकती है। एक दूसरे को समझने से मित्रता उपजती है, और मित्रता ही शान्ति की धात्री बनेगी—ऐसा हमारा अविचल विश्वास है।

अन्य प्रकाशन

★ योगी और अधिकारी
★ थॉमस पेन के राजनैतिक निबंध
★ शस्त्र - विदाई
★ शांति के नूतन क्षितिज
★ स्वातन्त्र्य - सेतु
★ वधू का ग्राम प्रवेश
★ अध्यक्ष कौन हो ?
★ फिलिपाइन में कृषि सुधार
★ मनुष्य का भाग्य
★ अमेरिकन शासन प्रणाली
★ अमेरिका में प्रजातन्त्र
★ डा. आइन्स्टीन और ब्रह्माण्ड
★ अनमोल मोती
★ जीवट के शिखर

पर्ल पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई - १
भारत में वितरक
इण्डिया बुक हाउस
२४९, डॉ दादाभाई नवरोजी रोड, बम्बई - १